जैन भारती

वर्ष 50 • अंक 11 • नवंबर, 2002

हार्दिक शुभकामनाओं सहित :

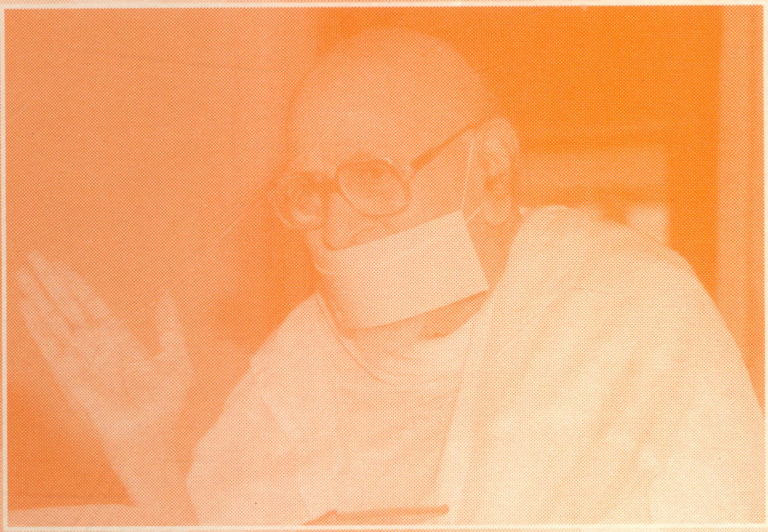

हेमराज शामसुखा

विनीत टेक्सफैब लिमिटेड

101, मामुलपेट, बंगलौर 560053

फोन : 2872355, 2871754

शुभू पटवा
मानद संपादक
•
बच्छराज दूगड़
मानद सह-संपादक

जैन भारती

नवंबर, 2002 • वर्ष 50 • **स्वर्ण जयंती वर्ष** • अंक 11 • रु. 15.00

विमर्श

9
आचार्यश्री महाप्रज्ञ
दमन नहीं—रेचन

15
कृष्णदत्त पालीवाल
परंपरा में ही हैं नवजागरण की जड़ें

18
डॉ. एस. राधाकृष्णन्
आत्मा के स्वामी बनो

21
ज्योति पाटणकर
अभिधेयं परम साम्यं

•

आवरण
खेराज

अनुभूति

25
समणी मंगलप्रज्ञा
तुलसी पोशाल का वैशिष्ट्य

28
समणी कुसुमप्रज्ञा
धर्मक्रांति के स्वर काव्यधारा में

32
मुनि मदनकुमार
अर्थ में ओझल विवेक

35
कहानी
शिवप्रसाद सिंह
कर्ज

40
कविता
भवानीप्रसाद मिश्र की कविताएं

प्रसंग

5
शुभू पटवा
आत्म-आलोक

शीलन

43
यशपाल जैन
धर्म की नींव : जीवन की इमारत

45
राजेन्द्र अवस्थी
ईमान का दीपक

46
साध्वी शुभ्रयशा
संकल्प : प्राणवान ऊर्जा-स्रोत

49
समणी सत्यप्रज्ञा
विवेक दृष्टि : जीवन की पहेली का हल

53
बालकथा
शान्तनुकुमार आचार्य
आकाश को सात सीढ़ियां

संपादकीय पता : संपादक, जैन भारती, भीनासर 334403, बीकानेर • फोन : 2270305, 2202505
प्रकाशकीय कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401
प्रधान कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता 700001
सदस्यता शुल्क : वार्षिक 125/- रुपये • त्रैवार्षिक 350/- रुपये • दसवर्षीय 1000/- रुपये

उच्चतर प्राणियों का उनकी उपयोगिता के कारण आर्थिक मूल्य है; लेकिन उनका अपने-आप में एक परा-आर्थिक मूल्य भी है। मेरे पास एक कार है—जो मनुष्य ने बनाई है और मैं यह कहने का हकदार हूं कि इसे इस्तेमाल करने का सबसे अच्छा तरीका इसके रख-रखाव पर कुछ भी खर्च किए बगैर इसे तब तक चलाते रहना है जब तक कि यह बिल्कुल खटारा न हो जाए। हो सकता है कि मैंने यह हिसाब लगा लिया हो कि कार के इस्तेमाल का यही सबसे किफायती तरीका भी है। अगर मेरा हिसाब सही है तो अपनी समझ के अनुसार कार्य करने के लिए कोई भी मेरी आलोचना नहीं कर सकता, क्योंकि कार जैसी मनुष्य-निर्मित वस्तु में पवित्रता का कोई तत्त्व निहित नहीं है। लेकिन अगर मेरे पास एक पशु है—जीवधारी, संवेदनशील प्राणी—चाहे वह बछड़ा हो या मुर्गी—तो क्या मुझे उसको सिर्फ एक उपयोगिता की वस्तु मानकर ही जैसे चाहूं इस्तेमाल करने दिया जाएगा? क्या मुझे उसकी अंतिम सांस तक उसे बेदर्दी के साथ इस्तेमाल करने दिया जाएगा?

इन प्रश्नों का वैज्ञानिक आधार पर उत्तर देने का प्रयत्न करना व्यर्थ है। ये तत्त्वमीमांसीय प्रश्न हैं, वैज्ञानिक प्रश्न नहीं हैं। 'कार' और 'पशु' के बीच सबसे बुनियादी भेद 'सत्ता के स्तर' का है; इसे स्वीकार किए बगैर केवल उपयोगिता के आधार पर उन्हें समकक्ष मानना तत्त्वमीमांसीय भूल है जिसके बड़े गंभीर परिणाम हो सकते हैं। आज का अधार्मिक युग उन दैवी-वचनों को हास्यास्पद समझता है जिनके माध्यम से धर्म ने हमारे पूर्वजों को तत्त्वमीमांसीय सचाइयां हृदयंगम कराई थीं।

—ई. एफ. शुमाकर

दो दृष्टिकोण होते हैं—एक सुधारने का और दूसरा अपमानित करने का। जिसने दोष किया हो उसे या गुरु को कहा जाए—यह सुधारने का दृष्टिकोण है। उन्हें न कहकर और-और लोगों को कहा जाए—यह किसी को अपमानित करने का दृष्टिकोण है। दूसरों को अपमानित कर स्वयं आगे आने की जो भावना है वह दोषपूर्ण पद्धति है। इससे एक-दूसरे को दोषी ठहराकर गिराने की परिपाटी हो जाती है। जिस संस्था या समाज के सदस्यों में एक-दूसरे को ओछा दिखाने की भावना या प्रवृत्ति नहीं होती, केवल एक-दूसरे को शुद्ध रखने के लिए ही दोषी को उसके दोष की ओर ध्यान दिलाने की कर्तव्य-भावना होती है, उस संस्था या समाज के चरित्र, प्रेम और संगठन दृढ़तम होते हैं।

दोष थोपना भी पाप है, उसका प्रचार करना भी पाप है और उसकी उपेक्षा करना भी पाप है। सत्पुरुष का कर्तव्य यह है कि वह कोरी संदेह भावना से किसी को दोषी न ठहराए। दोष देखे तो उसे या गुरु को जताए और कहीं उसका प्रचार न करे।

'भिक्षु विचार दर्शन' से

समाज या संप्रदाय को मैं एक दूरवीक्षण की तरह मानता हूं। जिस प्रकार दूरवीक्षण यंत्र से व्यक्ति बहुत दूर की चीजें देख सकता है, उसी प्रकार एक समाज, संघ या संप्रदाय-विशेष में रहकर भी व्यक्ति दूर-दूर तक बिखरे सत्य से साक्षात्कार कर सकता है। मैं आपसे ही पूछना चाहता हूं, क्या दूरवीक्षण यंत्र कोई बहुत लंबा-चौड़ा यंत्र है? आपके उत्तर के बिना ही यह बहुत स्पष्ट है—वह कोई लंबा-चौड़ा यंत्र नहीं है। बहुत छोटा-सा यंत्र है, सूक्ष्म यंत्र है। पर उससे जितना स्पष्ट देखा जा सकता है, उतना कोरी आंखों से भी नहीं देखा जा सकता। अतः किसी समाज या संप्रदाय-विशेष में रहने मात्र से व्यक्ति को संकीर्ण या संकुचित नहीं मानना चाहिए—जबकि उसके विचार उदार हैं, दृष्टिकोण व्यापक है, असांप्रदायिक है। मैं तेरापंथ-समाज और संघ से संबंधित हूं, उसकी सीमाओं में रहता हूं। पर सत्य को देखने और समझने के लिए सदा सावकाश हूं। तेरापंथ संघ या संप्रदाय की सीमाएं मेरे सत्य-दर्शन में कहीं बाधक नहीं हैं। इसलिए मैं सबसे कहना चाहता हूं कि व्यापकता को सही संदर्भ में देखें, सही रूप में समझें।

—आचार्यश्री तुलसी

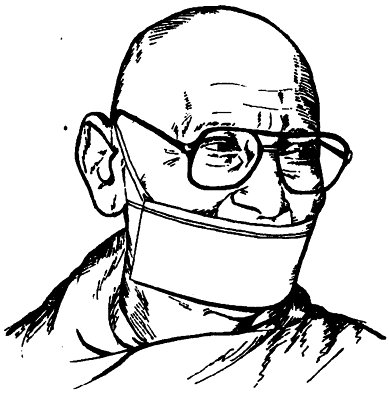

धर्म मानसिक और भावनात्मक स्तर की मांग है। इसलिए जनता उसे छोड़ भी नहीं सकती। उसका हृदय है—अहिंसा। उसका आचरण भी नहीं हो रहा है। यह दोहरी समस्या है। इस समस्या के मूल में प्रशिक्षण का अभाव है। हमारा मस्तिष्क बहुत लचीला है। उसे प्रशिक्षित किया जा सकता है, बदला जा सकता है। हिंसा का प्रशिक्षण मिले तो वह हिंसक हो सकता है और अहिंसा का प्रशिक्षण मिले तो वह अहिंसक हो सकता है। उसमें पुरानी आदत को छोड़ने और नई आदत का निर्माण करने की क्षमता है। हिंसा का प्रशिक्षण व्यापक स्तर पर हो रहा है। अहिंसा के प्रशिक्षण की कहीं कोई तैयारी नहीं है। फिर भी धर्म या अहिंसा के विकास की बात सोची जा सकती है। महावीर ने एक बड़े समूह को अहिंसा के लिए प्रशिक्षित किया था। उनके पास जो आते, उनसे महावीर प्रश्न पूछते, 'तुम कहां से आए हो? तुम्हें कहां जाना है?' इन दोनों प्रश्नों की खोज में मस्तिष्क की गति बदल जाती है। वह अतीत की गहराई में जाकर अपने-आप को पहचान लेता अथवा भविष्य के अंधेरे गलियारों को पार कर प्रकाश का चयन कर लेता। चिंतन और ध्यान की गहराई में जाने का अर्थ है—मस्तिष्कीय प्रशिक्षण।

अहिंसा के लिए मस्तिष्कीय प्रशिक्षण की एक प्रकल्पना, एक योजना आवश्यक है। उसके बिना निश्चित दिशा में आगे नहीं बढ़ा जा सकता। अहिंसा का पाठ सौ बार पढ़ लेने पर भी कोई अहिंसक नहीं बन जाता। पाठ प्रशिक्षण का एक अंग हो सकता है, वह प्रशिक्षण का पूरा कोर्स नहीं है। उसके लिए अनेक तत्त्वों का समाहार अपेक्षित है।

—आचार्यश्री महाप्रज्ञ

प्रसंग

आत्म-आलोक

हमारी परंपरा और संस्कृति में किसी विशिष्ट शाश्वत स्वरूप की यदि कल्पना की जाए तो जिस बिंदु पर दृष्टि टिकती है—वह बिंदु है 'आत्म-आलोक'। इसका वैशिष्ट्य सदा ही निर्विवाद रहा है। लोकदृष्टि में यह वैशिष्ट्य हम दीपावली के रूप में पाते हैं। किसी भी पर्व से अधिक महत्ता इस पर्व की ही क्यों मानी जाती है? हमारा उत्तर होगा—यह आलोक-पर्व है, प्रकाश-पर्व। इतिहास की कई विशिष्ट, प्रेरक घटनाएं इससे जुड़ी हैं, इसलिए भी इस पर्व की महत्ता हमारी परंपरा और संस्कृति में अन्य पर्वों की बनिस्पत विशेष है।

लोक-दृष्टि से इस पर्व की जितनी महत्ता है, उतना ही महत्त्व आध्यात्मिक दृष्टि से भी है। भगवान महावीर का परिनिर्वाण इसी दिन हुआ। मानते हैं कि भगवान महावीर ने कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी से अमावस की रात तक जो उपदेश दिया, वह 'आत्म-आलोक' की प्रभावना ही था। कुछ और भी घटनाएं इतिहास में इस आलोक-पर्व से जुड़ी हैं, जो इस पर्व की महत्ता को दर्शाती हैं। कथा है नचिकेता की, जो असत पर सत और मर्त्य पर अमर्त्य का ज्ञान लेकर पृथ्वी पर लौटे। यमलोक से धरती पर जिस रोज नचिकेता लौटे थे, वह दिन कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी था। इसीलिए इसे यम चतुर्दशी कहा जाता है, इसीलिए अमावस के दिन को 'ज्ञान-पुंज' के विस्फारण का दिवस कहा जा सकता है, नचिकेता के 'आत्म-आलोक' से प्रकट लोक के आलोक का दिवस। महावीर के परिनिर्वाण की ही भांति नचिकेता-प्रसंग भी आध्यात्मिक आलोक की ही श्रेणी में माना जाएगा—इसलिए कि असत पर सत और मर्त्य पर अमर्त्य का ज्ञान आध्यात्मिक अनुष्ठान ही से संभव हो सकता है।

कहना चाहिए कि भारतीय मनीषा में यही पर्व है जो लोक और अध्यात्म—दोनों स्तरों पर विशिष्ट व समादृत रूप में स्वीकृत है। इसीलिए भारी विपत्ति काल हो या गहन प्राकृतिक आपदा, यह पर्व संबल प्रदाता माना जाता है। संपूर्ण उत्तर भारत इस समय गंभीर सूखे व दुर्भिक्ष की चपेट में है, राजस्थान की दशा तो अकथ दयनीय है, पर दीपावली का एक 'दीया' उस घर में भी आलोकित होता है, जहां रोटी के लिए भी चूल्हा चाहे रोज सजग न हो पाता हो। परंपरा की गहरी जड़ों का ही यह प्रतिफल है कि अपने 'पर्व' का किसी अन्य के द्वारा याद दिलाने से नहीं, हर मन में स्वतः इसका स्मरण प्रस्फुट हो जाता है।

इस परंपरा का ही यह पुण्य है कि ऋषि-श्रेष्ठ भर्तृहरि कामना करते हैं—

'निंदंतु नीति निपुणाः
यदि वा स्तुवन्तु
लक्ष्मी समाविशतु गच्छतु
वा यथेष्टम्
अद्यैव मरणमस्तु युगान्तरे वा

न्यायात्पथात्
प्रविचलंति पदंन धीराः'

कोई बुरा कहो या अच्छा/लक्ष्मी आवे या जावे/लाखों वर्षों तक जीऊं या/मृत्यु आज ही आ जावे/अथवा कोई कैसा ही भय/या लालच देने आवे/तो भी न्याय मार्ग में मेरा/ कभी न पग डिगने पावे/, भर्तृहरि की यही कामना 'भारतीय मन' को सदा अभिप्रेरित करती रही है। कभी गांधी के मन और उनके कर्म में यह प्रकट हुई है तो अभी तीन-चार दशक ही बीते कि जे.पी. के मन और कर्म को भी इसी कामना ने ही जैसे उद्वेलित किया। लोक के आलोक पर स्वेच्छाचारिता का तमस जब छाने लगा तो राजनीति से सर्वथा विमुख हो चुके जयप्रकाशनारायण ने—'न्याय मार्ग में मेरा, कभी न पग डिगने पावे' से ही प्रेरणा ली होगी। यह भारतीय परंपरा ही तो है कि उन्हें इस ओर सक्रिय किया।

लोक के आलोक पर तमस का घटाटोप अभी भी कम नहीं है। पिछले वर्षभर में भारत और भारत से इतर घटित घटनाओं से स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह तमस हमारे आलोक को पी रहा है, अमृतरस को चूसा ही नहीं जा रहा, उसमें विष-कुंभ उंडेले जा रहे हैं। भारत की संस्कृति और परंपरा को रौंद रही घटनाओं ने भर्तृहरि के कथन को जैसे धूमिल कर डाला है। इस बार आलोक-पर्व दीपावली अकाल की काली छाया के साथ आतंक और दंगों की प्रेतछाया से भी ग्रसित है और उन सबके लिए यह एक चिंतनीय प्रश्न है जो 'न्याय मार्ग से अपने पग न डिगने पावें' के प्रति संकल्पित हैं।

यह दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति ही है कि 'न्याय-मार्ग' पर भी अब एक राय नहीं है। सत्ताभिमुखता के लिए क्षुद्र और ओछे हथकंडे भी अब 'न्याय' की धवल चादर तले होते हैं और 'न्याय' की परिभाषा भी अपनी अनुकूलता-प्रतिकूलता के आधार पर निर्मित होने लगी है। यह भी दुर्भाग्य ही है कि स्वस्थ और निर्मल प्रचार-तंत्र अब बाजार की भेंट चढ़ चुका है। राज सत्ता, धन सत्ता और किन्हीं रूपों में धर्म सत्ता का 'चेरी' बना प्रचार-तंत्र 'खबरपालिका' के निर्भय और निर्लोभ स्वरूप को खो रहा है। इसके नतीजे भी स्पष्ट नजर आ रहे हैं। जो लोग इस 'अनैतिक-चक्र' को संचालित करते हैं, वे भी इसके दुष्चक्र का शिकार होते हैं। इसकी विसंगतियों, विद्रूपताओं और विग्रहों के नतीजे भी इनको भोगने पड़ते हैं। तब भी वे इस घेरे से न बाहर निकल सकते, न इसे तोड़ सकते हैं और न इसे बदल सकते हैं। दरअस्ल किसी भी 'विशॅस सरकल' की यह विवशता ही होती है कि उसका फंदा उनके गले में भी लटका रहता है जो उसके हिस्से होते हैं।

इस विषम और दुरूह स्थिति से मुक्त हो जाने और लोक की आभा पर पड़ रही प्रेतछाया के कल्मष को साफ कर देने में यदि कोई उपाय-उपचार कारगर सिद्ध हो सकता है तो वह है—अध्यात्म का आलोक। यही 'आत्म-आलोक' है और जन-जन जब इससे आलोकित होगा तभी 'अनैतिक-चक्र' को छेदा जा सकेगा। इस दिशा में एक सद्-प्रयत्न पिछले वर्ष से शुरू हुआ—आचार्यश्री महाप्रज्ञजी की 'अहिंसा-यात्रा' के रूप में। एक वर्ष पूर्व उनकी यह यात्रा जब शुरू हुई थी तो 'गुजरात' नहीं हुआ था। गुजरात का दुर्भाग्य जब 'लोक' को मथ रहा था तो लोगों की सलाह थी कि 'अहिंसा-यात्रा' स्थगित कर दी जाए, गुजरात न जाया जाए। लेकिन आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का 'आत्म-आलोक' निष्प्रभावित ही रहा। उनके अटल निश्चय ने धवल दल की शांत पाद-यात्रा को गुजरात की तरफ अविराम गति से प्रशस्त रखा। पूर्व निर्धारित तिथि पर गुजरात और फिर अमदाबाद में उनका प्रवेश निर्विघ्न हुआ। चार माह की कालावधि में आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने निस्पृह-निर्विकार भाव से अध्यात्म के आलोक का लोक के श्रेयस् में प्रत्यारोपण का निर्विचार प्रयत्न किया। तब उनके सामने जो भी आया—मिले-जुले। यह देखना लक्ष्य ही नहीं रहा कि वह किस 'चोले' में है, रंग क्या है उस 'चोले' का। तब संभवतः लक्ष्य यही रहा हो कि निष्कृति कैसे मिले? उससे—जिससे 'गुजरात' हुआ, जिसने मानवता को कलुषित-जर्जरित किया। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने नहीं देखा कि जो उनके सामने है—वह कौन है? जो भी है, उसकी निष्कृति के लिए और प्रकारांतर से उसके आत्म-आलोक के लिए उन्होंने अपने अध्यात्म-आलोक को सद्भावपूर्वक निछावर किया, बिना यह फिक्र किए कि इसकी फलश्रुति क्या होगी।

चार-मासा पड़ाव के बाद अहिंसा-यात्रा इसी माह फिर चरैवेति-चरैवेति प्रशस्त होने को है और यही महीना आलोक-पर्व दीपावली का है। लोक-पर्व के आलोक पर छा गए तमस को मिटा देने का काम अभी चलेगा। महाप्रज्ञजी की 'अहिंसा-यात्रा' इस तमस को धोने में या कहें—'विशॅस सरकल' की निष्कृति में सक्रिय है।

शुभास्ते पन्थानः संतु!

— शुभू पटवा

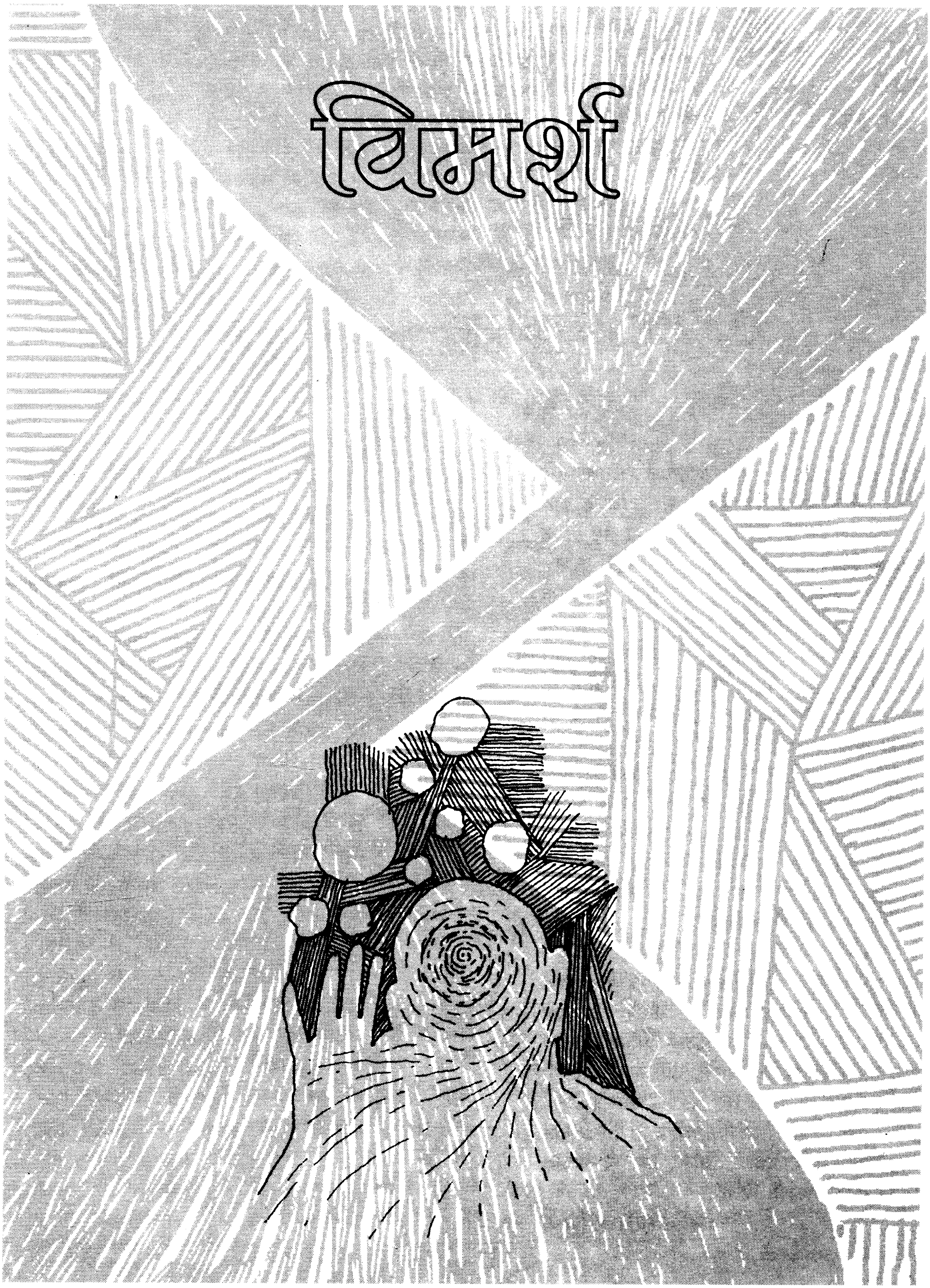
विमर्श

जिस व्यक्ति व समुदाय के चिंतन और चरित्र में समता के दर्शन के स्थान पर अमनीषाजन्य विषमता का स्वार्थपरक दर्शन हो और स्वतंत्रता के व्यवहार के स्थान पर स्वयं की स्वतंत्र समृद्धि हेतु अन्य व्यक्तियों व समुदाय के स्वतंत्र जीवन की समृद्धि पर मन्युमय प्रहार व कुठाराघात करने वाला अमानुषीय एवं विवेकहीन व्यवहार हो, वह व्यक्ति 'मानव' नहीं है और वह समुदाय 'मानवीय' नहीं है। न तो मानव का अभ्युदय समाज के अभ्युदय की बलिवेदी पर संभव है और न ही समाज अपने उत्थान हेतु मानव के वैयक्तिक स्वातंत्र्य एवं अभ्युदय की अवज्ञा कर सकता है। दोनों का परस्पर अभिन्नत्व है : मानव के व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास ऐसे सामाजिक सुव्यवस्थापक के अभाव में संभव नहीं है जिसमें समत्व-दर्शन और स्वातंत्र्य-जीवन की मानवीय प्रतिष्ठा न हो। पारस्परिकता के आत्मीय विस्तार का नाम ही धर्म है, और पारस्परिकता के अनात्मीय संकोच का नाम अधर्म। धर्ममय जीवन प्रेम से परिपूर्ण सर्वहित की कामना का पोषक रहता है; अधर्ममय जीवन मन्युमयता से सिक्त स्वहितकारी गतिविधियों की षड्यंत्रकारी नित्य नई संरचना करता रहता है।

—डी. डी. हर्ष

'महाभारत का अर्थ' से

अध्यात्म के किसी भी अनुभवी आचार्य ने दमन का प्रतिपादन नहीं किया। दमन की बात उपयुक्त नहीं है। प्राचीन ग्रंथों में दमन की भाषा ही नहीं मिलती। हो सकता है कि धर्म के कुछ आचार्यों ने ऐसा लेखन किया हो, पर उसे अनुभवशून्य लेखन ही मानना चाहिए। हर किसी लेखक की बात मान्य नहीं होती। उसी लेखक की बात मान्य होती है जो प्रत्यक्षज्ञानी है, कषायशून्य है, सम्यक् दृष्टिकोण से संपन्न है, आत्मा को उपलब्ध है, जो अध्यात्म की गहराई में उतरने का अभ्यस्त है—उसकी बात मान्य होती है, प्रमाण होती है। दूसरे व्यक्ति की बात प्रमाण नहीं होती। धर्मग्रंथों में यत्र-तत्र दमन के कथन प्राप्त होते हैं, परंतु यह नहीं कह सकते कि सभी धर्मग्रंथों में यह बात मान्य रही है। धर्णशास्त्र कभी दमन नहीं सिखाते। धर्मशास्त्र रेचन की बात सिखाते हैं।

□□

दमन नहीं—रेचन

□

• आचार्यश्री महाप्रज्ञ

□□

मैं ऐसे व्यक्तित्व का निर्माण चाहता हूं जो शक्ति-संपन्न, चेतना-संपन्न और आनंद-संपन्न हो। ऐसा व्यक्ति मिलना बहुत कठिन है जो इस त्रिपुटी से संपन्न हो। पशु में शक्ति बहुत होती है। किंतु वह अपनी शक्ति का उपयोग नहीं कर सकता, क्योंकि उसकी चेतना विकसित नहीं है। उसकी शक्ति का उपयोग मनुष्य करता है, क्योंकि उसकी चेतना विकसित है। चेतना का विकास किए बिना शक्ति का सही उपयोग नहीं किया जा सकता। बैल और भैंसे में प्रचुर शक्ति होती है। किंतु सब पशुओं की शक्ति का उपयोग मनुष्य ही करता है। उनकी सारी शक्ति मनुष्य के काम आती है।

जब-जब मैं बैलों और भैंसों को भार ढोते देखता हूं, तब-तब मन में आता है कि यदि इनमें चेतना का विकास होता तो न जाने आज ये क्या होते? इनमें चेतना का विकास नहीं है। हजारों वर्षों से ये भार ढोते आ रहे हैं और हजारों वर्षों तक भार ढोते ही रहेंगे। कोई परिवर्तन नहीं आया, कोई क्रांति नहीं हुई, कोई विकास नहीं हुआ। उनके लिए सारे युग समान हैं। प्रस्तर युग आया, मध्य युग आया और आज अणु युग चल रहा है। किंतु पशुओं के लिए ये सारे युग समान हैं। उन्होंने कोई विकास नहीं किया। वैज्ञानिक युग और प्रस्तर युग उनके लिए एक समान हैं।

मनुष्य में भी शक्ति है, किंतु शक्ति से अधिक उसमें चेतना का विकास है, इसलिए वह अपनी अल्पशक्ति का उपयोग इस प्रकार करता है कि खूंखार और प्रचुर शक्तिशाली जानवरों को भी वह नियंत्रण में ले लेता है, उनसे काम भी ले लेता है। शक्ति में मनुष्य पशु के बराबर नहीं है, किंतु वह चेतना का उपयोग करना जानता है, इसलिए अल्पशक्ति से ही महान शक्तिशाली जानवरों को वश में कर अनोखे काम कर लेता है। शक्ति की अपेक्षा बुद्धि बड़ी होती है। 'बुद्धिर्यस्य बलं तस्य'—जिसके पास बुद्धि है, उसके पास बल है। बुद्धि का बल, चेतना का बल, ज्ञान का बल—ये बल शारीरिक बल से बड़े होते हैं। शारीरिक बल को भी ये लांघ ले जाते हैं।

मनुष्य के पास शक्ति है, चेतना है, किंतु उसके पास एक तीसरी वस्तु नहीं है। वह तीसरी वस्तु है—आनंद। मनुष्य अपनी चेतना के द्वारा शक्ति का उपयोग करता है, किंतु शक्ति का सम्यक् उपयोग करना वह भी नहीं जानता। अपनी शक्ति का उपयोग करके वह स्वयं क्लांत होता है और दूसरों को भी क्लांत करता है। किसी का घोड़ा वह स्वयं बनता है तो किसी दूसरे को अपना घोड़ा बनाता भी है। वह स्वयं दूसरे पर चढ़ता है या दूसरे को अपने कंधों पर चढ़ाता है। किंतु इन सबमें वह आनंद का अनुभव नहीं कर पाता। आनंद का अनुभव वही कर पाता है—जिसके पास शक्ति हो, चेतना का विकास हो और चेतना का, शक्ति का सही उपयोग हो।

पशुओं में चेतना तो है, पर उसका विकास नहीं है। वह उसका सही उपयोग करना नहीं जानते। मनुष्य में चेतना का विकास तो है, फिर भी उसका सही उपयोग वह नहीं कर पाता, इसलिए आनंद उपलब्ध नहीं होता। पशु के लिए आनंद का प्रश्न ही नहीं उठता। जिसमें चेतना का विकास नहीं होता, उसमें आनंद का अनुभव करने की क्षमता भी नहीं होती। जिसमें चेतना का विकास है, उसमें आनंद का अनुभव करने की क्षमता होती है। जो चेतना का सही नियोजन कर पाता है, वह आनंद का उपभोग कर लेता है। जो चेतना का सही नियोजन नहीं कर पाता, वह आनंद का अनुभव नहीं कर सकता।

ध्यान साधना के द्वारा व्यक्ति अपनी चेतना का इस प्रकार नियोजन कर सकता है, कि सारी शक्ति आनंद की दिशा में प्रवाहित हो जाए और आनंद उपलब्ध हो जाए। आनंद का बाधक तत्त्व है—शक्ति, और आनंद का साधक तत्त्व भी है—शक्ति। शक्ति ही बाधा है और शक्ति ही साधक सामग्री है। शक्ति को ठीक दिशा में प्रवाहित करने पर आनंद प्राप्त होता है। शक्ति के विपरीत दिशा में प्रवाहित होने पर आनंद पर काली घटाएं उमड़ पड़ती हैं। आनंद सारा नष्ट हो जाता है। मूल प्रश्न है शक्ति के प्रवाह का। उसको किस दिशा में प्रवाहित करना है—यह मूल प्रश्न है। शक्ति के बिना क्रोध नहीं आएगा, अहंकार नहीं आएगा, राग नहीं होगा, प्रीति नहीं होगी। काम, यौन-वासना भी शक्ति के बिना नहीं होगी। दुनिया का कोई भी कार्य शक्ति के बिना नहीं हो सकता। ईश्वरवादी कहते हैं कि ईश्वर के बिना एक पत्ता भी नहीं हिल सकता। मैं कह सकता हूं कि दुनिया में जो-कुछ होता है वह शक्ति के द्वारा होता है। शक्ति के बिना कुछ नहीं होता। शक्ति के बिना न चेतना की प्रवृत्ति होती है और न आनंद की उपलब्धि होती है। सब-कुछ शक्ति से होता है। फर्क केवल इससे पड़ता है कि शक्ति किस दिशा में प्रवाहित होती है। क्रोध करने वाला अपनी शक्ति का उपयोग क्रोध की दिशा में करता है। जब हमारी ऊर्जा क्रोध की दिशा में प्रवाहित होती है, क्रोध उभर आता है। जब ऊर्जा काम-केंद्र की ओर प्रवाहित होती है, काम उभर आता है। हमारे शरीर में क्रोध के केंद्र हैं, काम-वासना के केंद्र हैं, ज्ञान के केंद्र हैं। ऊर्जा जिस केंद्र की ओर प्रवाहित होती है वही केंद्र सक्रिय हो जाता है। वह प्रवृत्ति उभरकर सामने आ जाती है। अब प्रश्न है कि उस प्रवृत्ति को कैसे रोका जाए? इसमें सब एकमत नहीं हैं। कुछ लोग कहते हैं—जो वृत्ति जागे—उसे भोग लो। उसे रोकने की जरूरत नहीं, भोग लो। यह मुक्तभोग की विचारधारा है। यह विचारधारा कहती है—क्रोध आए तो क्रोध कर लो। जी-भर इतना क्रोध कर लो कि क्रोध समाप्त ही हो जाए। जिसको मुक्तभाव से भोगा जाता है, वह क्रोध चरम बिंदु पर पहुंच कर विसर्जित हो जाता है।

एक है दमन का सिद्धांत। वह कहता है—दबाओ, दबाओ। क्रोध आए तो क्रोध को दबाओ। काम-वासना उभरे तो उसे दबाओ। जो भी वृत्ति उभरे, उसे दबाओ। दमन का सिद्धांत बहुत व्यापक है। मनुष्य समाज में जीता है। वह सामाजिक प्राणी है। समाज में दमन चलता है। समाज की अपनी मान्यताएं हैं, अपनी धारणाएं हैं। समाज व्यवस्था चाहता है। सामाजिक प्राणी नहीं चाहता कि जो भी वृत्ति जागे उसका सामाजिक स्तर पर मुक्तभोग किया जाए। क्रोध जागे और क्रोध का मुक्तभोग किया जाए—यह सामाजिक प्राणी कभी नहीं चाहता। क्रोध जागे, कोई किसी के चांटा मार दे, लाठी मार दे या हत्या कर डाले—समाज इसे बर्दाश्त नहीं कर सकता। किसी में लोभ की वृत्ति जागे, वह दूसरे की संपत्ति पर अधिकार कर ले, लोभ का मुक्त भोग कर ले—समाज इसे मान्य नहीं कर सकता। समाज ने अपनी व्यवस्थाएं बनाई हैं। उसने कहा—दमन करो। तुम सामाजिक प्राणी हो, समूह में रहते हो, इसलिए तुम्हें दमन करना होगा। यह नहीं होगा कि मन में आया वह कर ले। ऐसा कभी नहीं हो सकता। सामाजिक भूमिका में दमन का विकास हुआ, नियंत्रण का विकास हुआ, दंड-व्यवस्था का विकास हुआ। दंड की सारी व्यवस्था समाज और राज्य ने ही की है। राज्य यह कभी सहन नहीं कर सकता कि एक व्यक्ति अपनी मुक्त वृत्तियों के कारण दूसरों के अधिकारों का हनन करे या जो चाहे वैसा करे। यह नहीं हो सकता। एक मर्यादा बनानी होगी। एक रेखा खींचनी होगी कि व्यक्ति को क्या करना है और क्या नहीं करना है। और जो व्यक्ति उन मर्यादाओं की रेखाओं का अतिक्रमण करेगा, वह दंडित होगा। या तो स्वयं वह अपनी वृत्तियों को दबाए अन्यथा उसे दंडित होना पड़ेगा।

यह दमन की बात व्यापक है और समाज के स्तर पर चलती है।

दूसरी बात है भोग की। यह व्यापक नहीं है। यह कुछेक लोगों का सिद्धांत मात्र है। इस सिद्धांत की पृष्ठभूमि में उनका चिंतन यह है कि यदि व्यक्ति वृत्तियों को दबाता है, भोगता नहीं, तो दबाते-दबाते वे वृत्तियां इतनी संकलित हो जाएंगी कि एक दिन उनका भयंकर विस्फोट होगा और व्यक्ति उस विस्फोट को संभाल नहीं पाएगा। इसलिए वृत्तियों को दबाओ मत—उन्हें भोग लो। समाज-व्यवस्था

में यह बात मान्य नहीं है। किंतु इस सिद्धांत के प्रतिपादकों ने मानव की अंतश्चेतना, अंतर्मन, अवचेतन मन के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला कि यदि वृत्तियों का दमन किया गया तो उनके परिणाम अच्छे नहीं होंगे। बहुत अधिक क्रोध आ रहा है। यदि उसे जबरदस्ती दबाया गया तो उसका परिणाम यह होगा कि व्यक्ति के सिर में भयंकर पीड़ा उत्पन्न हो जाएगी, हृदय पर भी आघात लगेगा। व्यक्ति उस आघात को संभाल नहीं पाएगा। दबाई हुई वह वृत्ति भीतर-ही-भीतर सड़ांध पैदा करेगी, शारीरिक और मानसिक बीमारियां उत्पन्न करेगी। इसलिए वृत्ति को दबाओ मत।

मैं मानता हूं कि यह सुंदर सिद्धांत है। दमन के आगे की बात है—दमन मत करो। मनोविज्ञान का यह प्रतिपादन बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। मन की गहराइयों में जाकर जिन सूक्ष्म सत्यों को खोजा गया है, उनमें बहुत सचाई है। वे केवल मानसिक कल्पनाएं मात्र नहीं हैं। किंतु उनमें कुछ अधूरापन भी है। 'मत दबाओ'—इतनी बात तो ठीक है, किंतु 'उनका उन्मुक्तभोग करो'—इस बात के कटु परिणाम भी सामने आए हैं। 'मत दबाओ' का अर्थ 'उन्मुक्तभोग' करने से इस सिद्धांत के हृदय को ही तोड़ डाला गया। कुछ साधकों ने अध्यात्म के नाम पर भी, धर्म और ध्यान के नाम पर भी मुक्तभोग के प्रयोग प्रारंभ कर दिए। उन प्रयोगों से अध्यात्म लांछित होने लगा। इस मुक्तभोग का व्यापक विरोध हुआ। यह विरोध है सामाजिक व्यवस्था का। भारतीय समाज-व्यवस्था इस प्रकार के मुक्तभोग के प्रयोगों को मान्य नहीं करती, इसलिए विरोध होना स्वाभाविक है। किंतु यदि हम सामाजिक विरोध की बात छोड़ भी दें और गहराई में उतर कर अनुभव के आधार पर देखें, तो पता चलेगा कि भोग अध्यात्म की ओर नहीं ले जाता।

'मत दबाओ' का अर्थ मुक्तभोग नहीं होता। फ्रायड ने कहा कि दमन नहीं होना चाहिए। साथ-साथ उन्होंने यह भी कहा कि 'सब्लीमेशन' होना चाहिए, 'ट्रांसफोरमेशन'—रूपांतरण होना चाहिए। हमने आधी बात पकड़ ली और आगे की आधी बात छोड़ दी। यहीं से समस्या पैदा हुई। 'दबाना अच्छा नहीं है'—यह बात धर्म के मंच से भी कही जा सकती है, अध्यात्म के मंच से भी कही जा सकती है। 'मत दबाओ' का अर्थ होगा—वृत्ति का उदात्तीकरण, वृत्ति का रूपांतरण। जब मैं अध्यात्म की भाषा में सोचता हूं—मुझे लगता है कि 'काम' के रूपांतरण की बात एक मनोवैज्ञानिक कह सकता है, किंतु अध्यात्म की भाषा में 'काम' का रूपांतरण नहीं होता, उसका क्षयीकरण होता है, समाप्तीकरण होता है। 'काम' के परमाणु हैं, क्रोध के परमाणु हैं, उनका रूपांतरण नहीं होता। उनको तो समाप्त ही किया जा सकता है। बड़ी कठिनाई यह हो गई कि हमने ऊर्जा को बांट लिया। यह क्रोध की ऊर्जा है और यह 'काम' की ऊर्जा है—ऐसा मान लिया। ऊर्जा एक ही है। न काम की ऊर्जा है, न क्रोध की ऊर्जा है और न अहंकार की ऊर्जा है। ऊर्जा ऊर्जा है। वह किसी की भी नहीं है। वह शक्तिमात्र है। शक्ति का काम है दूसरे को सक्रिय करना, पुष्ट करना। यदि ऊर्जा 'काम-वासना' की ओर प्रवाहित होती है तो काम-केंद्र को सक्रिय बना देती है। यदि वह ज्ञान-केंद्र की ओर प्रवाहित होती है तो ज्ञान-केंद्र को सक्रिय बना देती है। यदि वह क्रोध के पास जाती है तो क्रोध की वृत्ति सक्रिय हो जाती है और यदि वह क्षमा के पास जाती है तो क्षमा की वृत्ति सक्रिय हो जाती है।

यदि हम काम-वासना के रूपांतरण की बात स्वीकारते हैं तो 'काम' को एक शाश्वत सत्य के रूप में स्वीकार कर लेते हैं। काम की ऊर्जा कोई शाश्वत सचाई नहीं है। वह एक आणविक संघटना है, अणुओं का संस्थान है। काम हमारी चेतना पर छाई हुई अणुओं की एक संरचना है। उन अणुओं को हम विलीन कर सकते हैं, समाप्त कर सकते हैं, किंतु उनका रूपांतरण नहीं कर सकते। यदि हम चाहें तो रूपांतरण इस अर्थ में कह सकते हैं कि हम काम की ओर प्रवाहित होने वाली ऊर्जा की दिशा को बदल सकते हैं। इसके अतिरिक्त कोई रूपांतरण नहीं होता। अतः काम या 'सेक्स' का रूपांतरण नहीं, किंतु 'सेक्स' के मार्ग में जाने वाली ऊर्जा को रोक देना, उसकी दिशा में परिवर्तन कर देना—यही अपेक्षित है।

महावीर ने लेश्या के सिद्धांत का प्रतिपादन किया। यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण सिद्धांत है। प्रत्येक व्यक्ति के पास एक आभामंडल और एक भावमंडल होता है। भावमंडल हमारी चेतना है और चेतना के साथ-साथ जो एक पौद्गलिक संस्थान है, उसे आभामंडल कहते हैं। चेतना हमारे तैजस्-शरीर को सक्रिय बनाती है। जब यह विद्युत-शरीर सक्रिय होता है, तब वह किरणों का विकिरण करता है। ये विकिरण व्यक्ति के शरीर के चारों ओर वलयाकार में घेरा बना लेते हैं। यह आभामंडल है। जैसा भावमंडल होता है वैसा ही आभामंडल बनता है। भावमंडल विशुद्ध होगा तो आभामंडल भी विशुद्ध होगा। भावमंडल मलिन होगा तो आभामंडल भी मलिन होगा, धब्बों वाला होगा। वह काले

रंग का होगा, विकृत होगा; अंधकारमय होगा। सारे चमकीले वर्ण समाप्त हो जाएंगे। हम भावधारा को, परिणाम-धारा को बदलकर आभामंडल को बदल सकते हैं।

अध्यात्म ने वृत्तियों के परिवर्तन का जो सूत्र दिया, वह है—रेचन। उसने कहा—वृत्तियों का दमन मत करो, उनका रेचन कर दो। अपने-आप को दंडित मत करो। जबरदस्ती मत करो। अपने-आप को हीन-भावना से मत भरो। ये वृत्तियां बीमारियां पैदा करती हैं। आत्म-भर्त्सना और हीन-भावना दमा का रोग पैदा करती हैं, और भी अनेक विकृतियां पैदा करती हैं।

इस प्रकार तीन बातें सामने आईं—दमन, भोग और रेचन। रेचन का अर्थ है—निर्जरा। वृत्ति का रेचन करो। क्रोध जागे तो उसे जबरदस्ती मत दबाओ, दबाने पर ऊर्जा धक्का मारती है। जो ऊर्जा क्रोध के साथ बाहर निकलना चाहती थी, यदि उसे जबरदस्ती रोका जाए तो वह भीतर से धक्का मारती है। वह तो शक्ति है। जहां वह धक्का मारती है, वहां का अवयव हानिग्रस्त हो जाता है। मन को आघात पहुंचता है इसलिए दबाओ मत—रेचन करो। वृत्ति को निकाल दो, मिटा दो। रेचन करो ध्यान के द्वारा, रेचन करो भावना के द्वारा, रेचन करो शब्द के द्वारा। अध्यात्म के आचार्यों ने रेचन करने के अनेक सूत्र दिए। उन्होंने कहा—'जब क्रोध की वृत्ति जागे तब एक ऐसे शब्द का उच्चारण करो कि क्रोध की वृत्ति को धक्का भी न लगे और क्रोध का रेचन भी हो जाए।'

'कोहो पीइं पणासेइ'—क्रोध प्रीति का नाश करता है। हमारे भीतर बहने वाली प्रेम की गंगा को क्रोध मलिन बना देता है। मैत्री की धारा को क्रोध मलिन कर देता है, दूषित कर देता है। इसलिए क्रोध आते ही ऐसे शब्द का आलंबन लो, एक शब्द को याद करो—तत्काल क्रोध की वृत्ति का रेचन हो जाएगा। शब्द का आलंबन, शब्द से निकलने वाली ध्वनि-तरंगों का आलंबन। भावना और दीर्घश्वास का आलंबन भी क्रोध की वृत्ति के रेचन में सहायक होते हैं। जैसे ही मन में क्रोध जागृत हो, दीर्घ श्वास का प्रयोग शुरू कर दें। श्वास के रेचन के साथ कार्बन निकलता है और साथ-साथ क्रोध की ऊर्जा भी निकल जाती है। क्रोध शांत हो जाता है। एक आदमी में काम की वृत्ति जागती है। जब वह बाहर निकलती है, तब आदमी सुख का अनुभव करता है। इतना-सा सुख कि जो ऊर्जा काम की वृत्ति के साथ जुड़ी, जो हमारी जैविक विद्युत काम की वृत्ति के साथ जुड़ी, वह विद्युत बाहर निकलना चाहती है। जब बाहर निकल जाती है तब ऐसा लगता है कि शांति मिली, बड़ा सुख मिला। जब वह भीतर ही रहती है तब प्रतिरोध करना शुरू करती है और भीतर-ही-भीतर कचोटने लगती है। काम का सुख, क्रोध का सुख, वृत्ति का सुख मात्र इतना है कि विद्युत का बाहर निकल जाना। जैसे फोड़े में पीप पड़ जाती है और उसे दबाकर पीप को निकाल देने पर व्यक्ति को सुख होता है, शांति होती है। जैसे पीप विजातीय पदार्थ है और उसके बाहर निकलने पर शांति मिलती है, वैसे ही काम की विद्युत जब बाहर निकल जाती है तब व्यक्ति को लगता है कि कुछ खाली हुआ है। उसे सुख का अनुभव होता है। क्रोध आता है और वह क्रोधी व्यक्ति यदि 10-20 गालियां बक देता है तो उसका मन शांत हो जाता है। उसे सुख का अनुभव होता है। जिसको मारना-पीटना है, यदि उसे मार-पीट दिया जाता है तो सुख का अनुभव होता है।

इनमें होता क्या है? केवल इतना ही होता है कि जो विद्युत इन वृत्तियों के साथ जुड़ी हुई थी, वह बाहर निकल गई। कार्य समाप्त हो गया। विद्युत को खर्च करने से आदमी खाली हो जाता है। वह निराशा से भर जाता है। उसका धैर्य समाप्त हो जाता है। उसकी प्रतिभा नष्ट हो जाती है। उसकी चिंतन-शक्ति समाप्त हो जाती है। उसकी सारी अच्छाइयां चुक जाती हैं। शरीर का बल, मन और बुद्धि का बल नष्ट हो जाता है। प्राणधारा को सक्रिय रखने वाला ईंधन समाप्त हो जाता है। ईंधन के साथ-साथ सक्रियता समाप्त हो जाती है। इसलिए ईंधन को चुका देना वज्र मूर्खता है। एक दिन ऐसा आता है कि आदमी शक्तिशून्य हो जाता है। वह ढीला हो जाता है। मन शक्तिहीन हो जाता है। सारा-का-सारा शून्य-सा लगने लगता है।

अतः हम विद्युत को खर्च न करें, केवल वृत्ति का रेचन करें। वृत्तियों के जो परमाणु हैं, उन परमाणुओं का रेचन करें, विद्युत को खर्च न करें। विद्युत को सुरक्षित रखें—यह है अध्यात्म की प्रक्रिया।

अध्यात्म के किसी भी अनुभवी आचार्य ने दमन का प्रतिपादन नहीं किया। दमन की बात उपयुक्त नहीं है। प्राचीन ग्रंथों में दमन की भाषा ही नहीं मिलती। हो सकता है कि धर्म के कुछ आचार्यों ने ऐसा लेखन किया हो, पर उसे अनुभवशून्य लेखन ही मानना चाहिए। हर किसी लेखक की बात मान्य नहीं होती। उसी लेखक की बात मान्य होती है जो प्रत्यक्षज्ञानी है, कषायशून्य है, सम्यक् दृष्टिकोण से संपन्न है, आत्मा को उपलब्ध है, जो अध्यात्म की गहराई

में उतरने का अभ्यस्त है—उसकी बात मान्य होती है, प्रमाण होती है। दूसरे व्यक्ति की बात प्रमाण नहीं होती। धर्मग्रंथों में यत्र-तत्र दमन के कथन प्राप्त होते हैं, परंतु यह नहीं कह सकते कि सभी धर्मग्रंथों में यह बात मान्य रही है। धर्णशास्त्र कभी दमन नहीं सिखाते। धर्मशास्त्र रेचन की बात सिखाते हैं। तपस्या की पूरी प्रक्रिया निर्जरा की प्रक्रिया है। धर्मशास्त्र निर्जरा की प्रक्रिया सिखाते हैं। धर्मगुरु निर्जरा का रास्ता दिखाते हैं। निर्जरा की प्रक्रिया दमन की प्रक्रिया नहीं है, रेचन की प्रक्रिया है। जो कर्म-परमाणु आत्मा के साथ जुड़े हुए हैं, जो हमारी वृत्तियों को जगाते हैं, उन सारे परमाणुओं का रेचन कर देना, उन्हें समाप्त कर देना, उनका शोधन कर देना—यह है निर्जरा की प्रक्रिया। रेचन और संवर—दोनों साथ-साथ चलें। पुराने परमाणुओं को झाड़ देना और नए परमाणु भीतर न जाने पाएं—ऐसी व्यवस्था करना। यह दोहरी व्यवस्था धर्म के आचार्यों ने की है। इसलिए मैं मानता हूं कि धर्म के आचार्य या धर्मशास्त्र वृत्तियों के दमन की बात नहीं कहते। यदि वृत्तियों के दमन की ही बात होती तो निर्जरा की प्रक्रिया हमारे सामने नहीं आती।

मनोविज्ञान ने रूपांतरण की बात का जो प्रतिपादन किया है, वह सामाजिक स्तर का रूपांतरण है। उसके पास अध्यात्म की प्रक्रिया नहीं है। अध्यात्म-साधना में एक ऐसी प्रक्रिया का प्रतिपादन है जिसके द्वारा व्यक्ति की वृत्तियों का विलीनीकरण हो जाता है और नए चैतन्य का उदय होता है। हमारी वृत्तियां जागती हैं काम-केंद्र के पास। क्रोध की वृत्ति, भय और काम-वासना की वृत्ति काम-केंद्र के आस-पास जागती हैं। नाभि के पास दो एड्रिनल ग्रंथियां हैं। वे वृत्तियों को उत्तेजित करती हैं। जब ऊर्जा नाभि के आस-पास घूमती है तब क्रोध, भय और काम की वृत्तियां बार-बार उभरती हैं और व्यक्ति को सताती रहती हैं। साधना से ऊर्जा का दिशांतरण करना होता है, उसके प्रवाह को बदल देना होता है। जो ऊर्जा नीचे की ओर प्रवाहित होकर निम्न वृत्तियों को शक्ति देती है, सक्रिय करती है, उसको ऊर्ध्वगामी बनाना, ज्ञान-केंद्र की ओर प्रवाहित करना—यह साधना का मूल लक्ष्य है। जब ऊर्जा ऊपर की ओर बहने लग जाती है तब वृत्तियां शांत हो जाती हैं। जब ऊर्जा ज्ञान-केंद्र तक पहुंचती है तब वृत्ति-केंद्रों का ही शोधन होने लग जाता है।

लेश्या के सिद्धांत में बताया गया है कि कृष्ण-लेश्या नील-लेश्या के भावों को प्राप्त कर नील-लेश्या में बदल जाती है। नील-लेश्या कापोत-लेश्या के भावों को प्राप्त कर कापोत-लेश्या में बदल जाती है। इसी प्रकार कापोत-लेश्या तेजो-लेश्या में, तेजो-लेश्या पद्म-लेश्या में और पद्म-लेश्या शुक्ल-लेश्या में बदल जाती हैं।

दूध में थोड़ा-सा दही डाला कि दूध दही बन गया। सफेद कपड़े को जिस रंग से रंगा, वह उसी रंग का बन गया। सफेद कपड़ा काला, नीला, पीला, लाल, बैंगनी—सभी रंगों का बन जाता है। स्फटिक के सामने जैसा रंग आता है वैसा ही प्रतिबिंबित हो जाता है। इसी प्रकार हमारी लेश्याएं भी भावों के परिवर्तन के साथ-साथ बदलती रहती हैं। जैसे-जैसे लेश्याएं बदलती हैं, वैसे-वैसे हमारा आभामंडल भी बदलता रहता है।

लेश्याओं का परिवर्तन कर हम अपनी वृत्तियों को बदल सकते हैं, उनका संशोधन कर सकते हैं। इस प्रक्रिया से हम काम-केंद्र का भी शोधन कर सकते हैं। उसे ऐसा निर्मल बना सकते हैं कि वहां काम और क्रोध की वृत्तियां आएं, पर जाग न पाएं, सक्रिय न बन पाएं। वह इतना निर्मल बन जाएगा कि वृत्तियां उभरेंगी ही नहीं। वहां एक ऐसा 'मैग्नेटिक फील्ड'—चुंबकीय क्षेत्र बन जाता है कि फिर उन निम्न वृत्तियों को वहां स्थान ही नहीं मिलता। वृत्तियां जागें, पर भीतर ही विलीन हो जाएं—यह ऊर्जा की ऊर्ध्वयात्रा से ही संभव है। हम ध्यान-साधना के द्वारा वृत्तियों का दमन नहीं करते, किंतु ऊर्जा को ऊर्ध्व पथ में प्रवाहित कर उनको विलीन कर देते हैं। जब हमारी ऊर्जा ज्ञान-केंद्र में जाती है, तब सारी निम्न वृत्तियां समाप्त हो जाती हैं। थायराइड, कंठमणि, पिच्यूटरी, पिनियल, विशुद्धि-केंद्र, दर्शन-केंद्र, ज्योति-केंद्र, शांति-केंद्र—ये सब ज्ञान-केंद्र हैं, ज्ञान के भाग हैं। ऊर्जा ऊपर उठकर इन केंद्रों को सक्रिय करती है। जब ये केंद्र सक्रिय होते हैं तब वृत्तियां अपने-आप शुद्ध होने लगती हैं, उनका रेचन होने लगता है। बिना जागे, बिना उदय में आए, बिना विपाक दिए, बिना फल दिए, एक ऐसी उदीरणा होती है कि वृत्तियों का स्वतः रेचन हो जाता है।

साधक का सर्वोपरि कार्य है ऊर्जा का ऊर्ध्वगमन करना, न कि वृत्तियों का दमन करना।

जो व्यक्ति धार्मिक होकर भी ऊर्जा के ऊर्ध्वगमन की प्रक्रिया को नहीं जानता, वह वृत्तियों का संशोधन नहीं कर सकता। वह दमन की स्थिति में चला जाता है। अध्यात्म की समूची साधना, योग की समूची साधना, ध्यान की समूची साधना ऊर्जा के ऊर्ध्वीकरण की साधना है।

किसी का सिर दुखता है। दूसरा व्यक्ति उसके सिर पर हाथ रखता है, सिर दबाता है। उसको लगता है, कुछ आराम हो रहा है। शरीर के किसी भाग में दर्द है। स्पर्श किया जाता है, दबाया जाता है—दर्द मिट जाता है। व्यक्ति

को सुख का अनुभव होता है। यह सारा प्राण-शक्ति का कार्य है। एक व्यक्ति की प्राणधारा, विद्युतधारा दूसरे व्यक्ति की प्राणधारा या विद्युतधारा से संपृक्त होती है— तब सुख का अनुभव होता है। यह प्राण-चिकित्सा है। इसे यदि हम अध्यात्म-चिकित्सा या अध्यात्म-साधना मान लेते हैं, ध्यान की साधना मान लेते हैं—तब बहुत बड़ी भ्रांति हो जाती है। यह सच है कि प्राण-चिकित्सा के द्वारा रोगों को ठीक किया जा सकता है। प्राण-शक्ति के द्वारा एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति की विद्युत को छूकर, उसकी मानसिक कुंठाओं को मिटा सकता है, उसकी दमित वासनाओं को रूपांतरित भी कर सकता है। किसी पुरुष का स्त्री के प्रति अनासक्त भाव हो गया या किसी घटना के कारण मन में ग्लानि हो गई, प्राण-शक्ति का प्रयोग कर इस ग्लानि को मिटाया जा सकता है, उस पुरुष में स्त्री के प्रति पुनः अनुराग उत्पन्न हो सकता है। किंतु यह कोई ध्यान या अध्यात्म का प्रयोग नहीं है। यह मात्र प्राण का प्रयोग है।

अपने व्यक्तित्व के प्रति दमन जितना अपराध है उतना ही अपराध है उन्मुक्तता या उच्छृंखलता अपने व्यक्तित्व के प्रति। हम इन दोनों से बचकर रेचन की बात सीखें, रेचन करना जानें। जब ऊर्जा की ऊर्ध्वयात्रा होगी, तब हमारी समस्याएं अपने-आप समाहित होंगी और हम भ्रांत दिशाओं में जाने से बच जाएंगे। ❖

रचनाकारों से

जैन भारती में नैतिक-आध्यात्मिक स्तर के विचार-प्रधान व विश्लेषणात्मक लेखों और मौलिक कहानियों-कविताओं का स्वागत है, प्रकाशित-प्रसारित रचनाओं का उपयोग करना संभव नहीं होगा

अपनी रचनाएं कागज के एक तरफ साफ-साफ टाइप की हुई भेजें, हाथ से लिखी हुई रचनाएं भी कागज के एक ओर ही लिखी हों

लिखावट साफ-सुथरी, बिना काट-छांट के होनी चाहिए कागज के एक ओर पर्याप्त हाशिया अवश्य छोड़ें

जीवन परिचय, व्यक्तित्व व कृतित्व पर लिखे गए लेख सीधे नहीं भेजें ऐसे लेख हमारे मांगने पर ही लिखें व भेजें तो बेहतर होगा

सम-सामयिक विषयों पर विचारात्मक टिप्पणियों का भी हम स्वागत करेंगे ऐसे लेख भी नैतिक-आध्यात्मिक स्तर के हों और विश्लेषणात्मक हों तो बेहतर होगा

महिलाओं, किशोरों और बाल-मन पर आधारित रचनाओं का हम स्वागत करेंगे

आप चाहें तो कहानी-कविता भी भेज सकते हैं

अप्रकाशित रचनाएं लौटाना अथवा इस बारे में पत्र-व्यवहार करना संभव नहीं होगा

बेहतर हो, भेजी गई रचना की एक प्रति रचनाकार पहले से ही अपने पास रखें

धर्म यहां रिलीजन का पर्याय नहीं रहा। वह मानव धर्म बनकर समाज को धारण करने की प्रक्रिया बनकर ही निखरा। इसलिए पूर्व और पश्चिम के ऐतिहासिक अनुभव एक-दूसरे से उलटे रहे। भारत ने प्रकृति, धर्म और दर्शन को एक साथ एकाकार करके सभ्यता-संस्कृति के सपने को आगे बढ़ाया। देखा जाए तो धर्म और संस्कृति दोनों ही गलत अनुवाद के कारण अवमूल्यन के शिकार हुए। अन्यथा भारतीय धर्म-चेतना एक विचारपरक अर्थ में विज्ञान-चेतना की विरोधी नहीं है। ओढ़ी हुई पश्चिमी मानसिकता ने यह विचार मुकम्मल किया कि धर्म हेय है, बंधन है, तोड़ने वाला जहर है, संप्रदायवाद है, संस्थान है। भारत में भौतिकता और अध्यात्मवाद का अद्वैत सदियों से चला आया था जिसे पश्चिम ने भौतिकता और अध्यात्मवाद के द्वैत से गलत राह दिखाई। धर्म की मानववादी दृष्टि का इस पश्चिमी चिंतन ने सत्यानाश कर डाला। पश्चिम की अतिरेकवादी द्वैत दृष्टि ने विसंगतियों को जन्म देकर भारतीय अस्मिता की सही पहचान को भुला दिया।

❑❑

परंपरा में ही हैं नवजागरण की जड़ें

❑

कृष्णदत्त पालीवाल

❑❑

एक औसत भारतीय के दिमाग में यह बात ठूंस-ठूंसकर भरने का प्रयास किया जाता रहा है कि वर्तमान भारत का आधुनिक ढांचा पश्चिम के नए विचारों से निर्मित हुआ है। इस तरह के तर्कों की वास्तविकता को गहराई से खोजने और समझने की जरूरत है। नवजागरण की भारतीय दृष्टि से पश्चिमी दृष्टि एकदम भिन्न और विरोधी है। आखिर तिलक और गांधी—दोनों ही गीता और उपनिषद् की मूल धुरियों को क्यों पकड़ते हैं? अपने भाषणों, लेखों, भाष्यों में तिलक ने बार-बार स्पष्ट किया है कि गीता के कर्म-दर्शन सिद्धांत में ही हमारे चिंतन की वह तेजस्वी परंपरा छिपी है जो अनेक रूपों में भारतीय मानस को आंदोलित करती रही है।

तिलक का समूचा चिंतन बताता है कि यह जगत एक गतिशील, परिवर्तनशील काल-यान की धुरी पर घूम रहा है। इस धुरी के साथ जुड़कर मानव-चेतना को कर्म में सक्रिय रहना चाहिए। जय-पराजय कुछ नहीं हैं। सब-कुछ है कर्मठता की भावभूमि। धन, तन का मोह न करो क्योंकि वे किसी के पास टिकने वाले नहीं हैं। त्याग के साथ भोग और भोग के साथ त्याग इस चिंतन का सनातन स्रोत है। अपनी लघुता को त्यागकर एक विराटता में एकाकार होना ही मानव धर्म और लोक धर्म की विकसित चेतना है।

भारत में अनेक जिज्ञासामूलक धर्म, दर्शन, अध्यात्म-चिंतन के संप्रदाय रहे हैं किंतु एक घटिया किस्म का संप्रदायवाद उनमें कहीं विकसित नहीं हुआ? क्या ये सब आपस में टकराए नहीं? क्या इनकी दृष्टिगत सीमाएं इन्हें तोड़ती नहीं रहीं? और फिरंगी शासन के स्थापित होने पर इनकी भेद-दृष्टि ने भारतीय समाज को कमजोर सिद्ध नहीं किया? क्या मसीही दर्शन के प्रचार-प्रसार और ललकार ने वैष्णव, शैव, शाक्त, बौद्ध, जैन दर्शनों की धुरियां नहीं हिला दीं? इन तमाम प्रश्नाकुलताओं के साथ जब प्रबुद्ध भारतीय नागरिक आधुनिक नवजागरण पर सोचने बैठता है तो पता चलता है कि धर्म, दर्शन, अध्यात्म की यहां एक ऐसी अटूट ताकत जनता के पास पहले से ही थी कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद उसे भीतर से प्रभावित नहीं कर सका। भारतीयों के मन में ब्रिटिश शासनकाल में राम, कृष्ण, शिव की चिंतन-परंपरा को हेय मानने की बात एक क्षण के लिए भी नहीं आई। उनमें यह भाव भीतर-ही-भीतर मथता रहा कि हम इतने गौरवशाली चिंतन के दाय को पाकर भी पराधीन क्यों हैं? और इसी चिंतन की कुरेद ने भारतीयों को भीतर की रोशनी दी जिससे निराशा खत्म हुई और नवनिर्माण, सुधार-भावना के भीतर से आधुनिक भारतीय नवजागरण की किरणें फूट पड़ीं।

यदि भारतीय मनीषा ने पश्चिम के सामने समर्पण कर दिया होता तो आज मानने में हमें कोई कठिनाई न होती कि

हमारा नवजागरण पश्चिम की देन है और पश्चिम जैसा है। चूंकि हम भारतीयों ने पश्चिमी ट्रेजेडी के चिंतन को यथार्थ चिंतन कहकर स्वीकार नहीं किया और यह विश्वास नहीं खोया कि जीवन में अन्याय पराजित होकर रहता है। हमारी धर्म कथाओं, पौराणिक कथाओं, जातक कथाओं, किंवदंतियों, लोक कथाओं, मिथकों का केंद्रीय चिंतन यही रहा कि हर कंस कृष्ण के द्वारा अवश्य मारा जाएगा। हर अंधकार पर प्रकाश की जीत होगी। यह अंधकार से जूझकर प्रकाश पाने की परंपरा आधुनिक नवजागरण की प्रत्येक घटना और क्रांति में देखी जा सकती है। यहां जीव के मरने पर जीवन नहीं मरता और जीव भी पुराने वस्त्र त्यागकर नए वस्त्र धारण कर लेता है। जीव और जीवन की यह अदम्य लालसा ही प्रत्येक अन्याय के प्रतिकार में खड़ी होती है। कभी इस लालसा का नाम तिलक रहा है, कभी सुभाष, कभी गोखले, कभी गांधी और कभी अरविंद तो कभी विवेकानंद। लेकिन लालसा ने अपराजेय भारतीय मन को कभी कुचलकर मरने नहीं दिया।

सन् 1857 की क्रांति में यही लालसा किसान, मजदूर, सिपाही, राजा, नवाब, प्यादा बनकर रंग लाई। क्रांति केवल गाय-सूअर की चर्बी का खेल नहीं है। मूल बात इतनी है कि अन्याई के खिलाफ जब मौका हाथ लग जाए, खड़े होने की जरूरत है। इस जरूरत के लिए भारतीय जनता को कोई ईश्वर नहीं चाहिए। जरूरत के समय यदि कोई बुद्ध, कोई महावीर मिल जाए तो बात बन जाती है। बौद्ध जैसी परंपराओं में इस बात पर विवाद नहीं रहा कि ईश्वर है या नहीं है। ईश्वर नहीं है तो भी चिंता की बात नहीं है। मानव को तो आगे चलना है। भारतीय चिंतन में जीवन का ठहराव—पड़ाव नहीं है। गति है, सतत परिवर्तनशील जीव-जीवन स्थिति है। इसी मूल दृष्टि को ग्रहण करने के बाद भारतीयों ने नैतिक आचार संहिताएं बनाई थीं। ईश्वर से ज्यादा सृष्टि के नियमों की परवाह की और इसी के भीतर से लौकिक ज्ञान-विज्ञान का दोहन किया। पारलौकिक चिंता ने लोक-चिंता, लोक-पीड़ा को कभी भी दूसरी स्थिति में नहीं रखा। लोक-चिंता की तार्किकता ने शास्त्र और नियमों को चुनौती दी। शास्त्र और लोक के बीच के द्वंद्व में जीत लोक की हुई। स्वयं गांधी के नारायण की आंखों में नर की व्यथा ही उभरी और यह प्रथा ही हमारे भारतीय नवजागरण की सच्ची मनोभूमिका है।

भारतीय इतिहास की गति गवाह है कि हिंदी-अहिंदी प्रदेशों के भीतर से जो खौलता हुआ खमीर उठा, उसने साहित्य में रवींद्रनाथ, इकबाल, भारतेंदु, महावीरप्रसाद द्विवेदी की शक्ल धारण की और राजनीति में तिलक, गोखले, गांधी की। सांस्कृतिक क्षेत्र में यही मानवेंद्र राय, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानंद और अरविंद का रूप धारण कर सामने आया। विचारों के इसी महाप्रवाह ने संपूर्ण भारतीय साहित्य के भीतर नवजागरण के बीजों को जमने-पनपने का मौका दिया। भारत और पश्चिम के इतिहास और मान्यताओं की सतही तुलना करने वाले बुद्धिजीवियों ने इस भीतरी प्रवाह के चिंतन को भुलाकर जो आश्चर्यजनक भ्रम फैलाए हैं वे इसीलिए निराधार सिद्ध हो जाते हैं कि उनमें भारतीय चिंतन की मूल दृष्टि गायब रही है। पश्चिम के दिमाग में विजयोन्माद के कारण यह एहसास पलता रहा है कि शक्ति ही सब-कुछ है। इसी शक्ति को आधार बना कर उन्होंने एक सभ्यता-संस्कृति खड़ी करनी चाही है और यही इच्छा भारत में 'मति अति रंक मनोरथ राइ' सिद्ध हुई है। शक्ति और संपत्ति की वैभवशाली सभ्यताएं भारत में रहीं पर वे समाज का आदर्श नहीं बन सकीं। समाज का आदर्श वह मानव धर्म ही बना रहा है जो मानव को मुक्ति के रास्ते पर ले जाने का संकल्प दृढ़ किए रहा।

धर्म यहां रिलीजन का पर्याय नहीं रहा। वह मानव धर्म बन कर समाज को धारण करने की प्रक्रिया बनकर ही निखरा। इसलिए पूर्व और पश्चिम के ऐतिहासिक अनुभव एक-दूसरे से उलटे रहे। भारत ने प्रकृति, धर्म और दर्शन को एक साथ एकाकार करके सभ्यता-संस्कृति के सपने को आगे बढ़ाया। देखा जाए तो धर्म और संस्कृति दोनों ही गलत अनुवाद के कारण अवमूल्यन के शिकार हुए। अन्यथा भारतीय धर्म-चेतना एक विचारपरक अर्थ में विज्ञान-चेतना की विरोधी नहीं है। ओढ़ी हुई पश्चिमी मानसिकता ने यह विचार मुकम्मल किया कि धर्म हेय है, बंधन है, तोड़ने वाला जहर है, संप्रदायवाद है, संस्थान है। भारत में भौतिकता और अध्यात्मवाद का अद्वैत सदियों से चला आया था जिसे पश्चिम ने भौतिकता और अध्यात्मवाद के द्वैत से गलत राह दिखाई। धर्म की मानववादी दृष्टि का इस पश्चिमी चिंतन ने सत्यानाश कर डाला। पश्चिम की अतिरेकवादी द्वैत दृष्टि ने विसंगतियों को जन्म देकर भारतीय अस्मिता की सही पहचान को भुला दिया। आचार्य क्षितिमोहन सेन के शब्दों में कहें तो धर्म का विकास भारत में वृक्ष-भाव से हुआ। वृक्ष के बीज से अंकुर फूटता है। अंकुर से शाखाएं, प्रशाखाएं फूटती हैं, पुराने पत्ते झरते हैं, नए पत्ते आते हैं, नए फूल-फल लगते हैं। वृक्ष विहगों को आश्रय देता है और पथिकों को छाया। वृक्ष के बीज से नए वृक्ष फिर उगते हैं। यह प्रक्रिया सतत चलती रहती है। अतः धर्म एक प्रकार से वैदिक ऋत का रूपांतर है जिसमें अखंडित भाव से सृष्टि-गति की निरंतरता बनी रहती है। यही

धर्म एक विशिष्ट अर्थ में काल है जो अनंत है, अनंत से अनंत की अनवरत यात्रा है।

प्रकृति के साथ ऋत भाव है। ऋत का अर्थ है गति का नैरंतर्य। इसी का पौराणिक प्रतीक वृष है। यह वृष कृषि का दाता है। संस्कृति की जमीन को यह तोड़कर उर्वर बनाता है। नई मिट्टी ऊपर लाता है। नई फसल लहलहाता है। अन्नमय प्राणी इसे खाकर जीता है। वह वृक्ष ही पृथ्वीरूपी गौ का रक्षक है, पिता है, भाई है। इस गाय के सत्य, दया, तप और दान—ये चार पैर हैं। और आगे देखें तो रूपकों की भीड़ खत्म होने पर धर्म को सूर्य का पुत्र कहा गया है। सूर्यपूजक भारतीय संस्कृति की धर्म-धारणा को इस संदर्भ में देखने पर अनेक नए अर्थगर्भित प्रसंग फूट पड़ते हैं। खुले दिमाग से हम धर्म के विषय में चिंतन करते हैं तो पाते हैं कि धर्म सभी को दुख से मुक्ति दिलाने का समष्टि-चित्त भाव है। धर्म वही है जो एकांगी दीवारें तोड़ता है, जीव मात्र के मंगल में सक्रिय रहता है। किंतु हमारा यह चिंतन कि मरने में जीना समाया हुआ है पश्चिमी विचारकों की खोपड़ी में ठीक से नहीं बैठ सका।

आधुनिक भारतीय जनजागरण की यह विशिष्टता विचारणीय है कि जन-मुक्ति आंदोलन यहां जनता ने चलाया है—सामंतों, साहूकारों, ताल्लुकेदारों ने नहीं। क्योंकि ब्रिटिश साम्राज्यवाद की नीतियों से सबसे ज्यादा मार भारतीय जनता पर ही पड़ी। किसान-मजदूर की गरीबी इस हद तक पहुंच गई है कि न खाने को अन्न, न पहनने को वस्त्र, न रहने को छप्पर। इसी भुखमरे वर्ग से आए किसानों-मजदूरों ने गांवों को छोड़कर फौजी भर्ती की शरण ली और समय आने पर सशस्त्र विद्रोह किया और शहीद हो गए। लड़ने वालों में उच्च वर्ग और निम्न वर्ग के सभी लोग भेदभाव खोकर खेल रहे थे। हिंदू ने मुसलमान को गले लगा लिया था मुसलमान ने हिंदू को। नाना साहब और अजीमुल्ला का लक्ष्य एक था—देश से फिरंगियों को खदेड़कर स्वशासन स्थापित करना। इन्हीं भेदभावरहित हिंदू-मुसलमानों के, आजादी के दौरान, गांधी जननेता बने और निर्भयता से डटे रहे। अतः मूल क्रांतिकारी चिंतन गांव और खेतों से उमड़कर ही दिल्ली की ओर बढ़ा और फिरंगी से हमने अपनी आजादी हासिल करके ही चैन लिया। इस सचाई की पहचान हिंदी साहित्य में माखनलाल चतुर्वेदी, मैथिलीशरण गुप्त, रामनरेश त्रिपाठी के साथ छायावाद के कवियों में साफ तौर पर की जा सकती है। इसी नवजागरण के भीतर से सृजनात्मक क्षेत्र में प्रेमचंद और निराला, आलोचना के क्षेत्र में महावीरप्रसाद द्विवेदी और रामचंद्र शुक्ल पैदा होते हैं। और इसी के भीतर से चोट खाकर जयशंकर प्रसाद का सांस्कृतिक संवेदन तेजोदीप्त प्रकाश धारा में फूट पड़ता है—'अरुण यह मधुमय देश हमारा।' यह देखना जरूरी है कि धर्म-दर्शन ने हिंदी के आधुनिक साहित्य में जो भूमिका अदा की है वह लोक जागरणवादी, अन्याय विरोधी, स्वाधीनताप्रिय, स्वतंत्र चिंतन की प्रेरणा से भरी पड़ी है। राजनीतिकों, समाज सुधारकों के साथ कवियों ने भी लगातार यह आवाज उठाई है कि 'न्यौछावर करदें हम सर्वस्व हमारा प्यारा भारतवर्ष।' स्पष्ट होता है कि मध्यकालीन संतों के नवजागरण की धारा इस बार नए रूपों-संदर्भों में रूपांतरित होकर सामने आई। स्वयं गांधी इसी वैष्णव परंपरा के परिणाम थे और भारतेंदु भी। यह सच है कि भारतेंदु, विवेकानंद और गांधी की जानकारी बहुत-से मामलों में ठोस नहीं थी पर भारतीय सांस्कृतिक-सामाजिक परंपराओं की स्मृति से जो जानकारी इन्हें मिली भी, वह पूंजी ही उनके लिए काफी थी। इसी जानकारी के बल-बूते पर उन्होंने समाज को जगाया।

अपनी सांस्कृतिक-सामाजिक मान्यताओं की एक समान तार्किकता को पाने से पहले यह जरूरी है कि हम अपने इतिहास के राजनीतिक-आर्थिक ढांचे के सिद्धांत पर गहराई से विचार करें। इसी आधार पर जो मूल मुद्दे उभरते हों उन पर पुनः विचार करें। लेकिन इस कार्य के लिए हमें पश्चिमी सिद्धांतों से एक बार मुक्ति पानी होगी। हमारे सामाजिक-सांस्कृतिक ढांचे को बनाने में पश्चिम का समाजशास्त्र और इतिहास—सांस्कृतिक दृष्टि से मदद नहीं कर सकते। इसके लिए हमें भारत और भारतीयता की ही व्याख्या करनी पड़ेगी। यह भी समझना होगा कि हमारे समाज का गठन व्यक्ति की इकाइयों से नहीं, परिवार की इकाइयों से हुआ है। छोटे परिवार से बढ़कर समाज एक बृहत्तर परिवार है जिसमें व्यक्ति अपने हित में नहीं, परिवार के हित में सोचता है। इस गठन की प्रकृति में मानव-एकता के सूत्र काफी गहरे हैं और लक्ष्य है व्यक्तित्व के बंधनों से छुटकारा पाना। मानव देह पाकर विश्व-चेतना, विश्व-उल्लास से जुड़ना भारतीयता है जिसे इधर पश्चिम की लड़ाई लड़ने वाली नस्लपरक राष्ट्रीयता' ने नष्ट करना चाहा है। हम भारत के इतिहास को वैदिक, बौद्ध-जैन, ब्राह्मण, श्रमण, शैव, शाक्त संस्कृति के काल-खंडों में न देखें, एक अखंड मानव-यात्रा की विकासमान, परिवर्द्धमान धारा के रूप में देखें। ऐसे ही भारत को बंगाली, बिहारी, तमिल, आंध्र की क्षेत्रीयता में न समझें, उसे पार्वती की भुजाओं की तरह अभिन्न समझें तो हमारी पहचान पकड़ में आ जाती है। उन्नीसवीं शताब्दी के इस लोक जागरण को थाहने के लिए यह पहचान जरूरी है। ❖

आत्मा के रूप में मनुष्य का स्थान प्राकृतिक और सामाजिक संसार के ऊपर है। जब तक हम मानव आत्मा की अंतर्मुखता को, आत्मनिष्ठता के सिद्धांत को समझ सकने के योग्य नहीं हो जाते, तब तक हम अपने-आप को पा नहीं सकते, हम अपनी खुदी को गवां बैठेंगे। हममें से अधिकांश लोग हमेशा दुनियादारी के गोरख-धंधे में पड़े रहते हैं, भौतिक सुखों के संग्रह में अपना सारा समय तथा सारी शक्ति लगा देते हैं। स्वास्थ्य, धन, वैभव, मकान और जायदाद—ये जो सांसारिक चीजें हैं, उन्हीं में हम अपने को खो देते हैं—हम खुद उनके स्वामी नहीं बनते, उनको अपना स्वामी बन जाने देते हैं। ऐसे ही लोग अपनी आत्मा का हनन करने वाले होते हैं। उनको 'आत्महनो जनाः' कहा जाता है। यही कारण है कि हमारे देश में सदा से यह कहा जाता रहा है—आत्मा के स्वामी बनो।

❑❑

आत्मा के स्वामी बनो

❑

डॉ. एस. राधाकृष्णन्

❑❑

800 से 200 ई. पू. का काल इतिहास की धुरी माना जाता है। दूसरे शब्दों में, विश्व की चिंतना की धुरी प्रकृति के अध्ययन से हटकर मनुष्य के जीवन के अध्ययन पर आ गई। चीन में लाओ-त्से और कनफ्यूशस, भारत में उपनिषदों के द्रष्टा-ऋषि, महावीर और गौतम बुद्ध; ईरान में जरथुस्त्र; जूडिया में महान पैगंबर लोग; यूनान में पाइथागोरस, सुकरात और प्लेटो जैसे दार्शनिक; इन सभी महापुरुषों ने बाह्य प्रकृति से अपना ध्यान हटाकर मानव-आत्मा के अध्ययन में लगाया।

इतिहास के इन महापुरुषों में से एक महावीर भी थे। उनको 'जिन' अर्थात् विजेता कहा जाता है। उन्होंने राज्य नहीं जीते : बल्कि अपनी आत्म को, अपने अहं को जीता। उनको 'महावीर' कहा जता है, परंतु वह सांसारिक युद्ध को अपना पराक्रम दिखाने वाले वीर न थे, वरन् आंतरिक जीवन के द्वंद्व में वीरता दिखाने वाले महावीर थे। कृच्छ्र साधना, संयम, आत्म-शुद्धि और सहानुभूति की निरंतर प्रक्रिया के द्वारा उन्होंने अपने दैवी मानव की स्थिति प्राप्त कर ली। उनका जीवन अन्य लोगों के लिए भी, जो आत्मजित् बनने के इसी आदर्श का पालन करना चाहते हैं, प्रेरणाप्रद है।

यह देश अपने इतिहास के आदिकाल से लेकर आज तक इसी महान आदर्श का पोषक रहा है। जब हम मोहनजोदाड़ो और हड़प्पा के काल से लेकर इस आधुनिक काल तक के प्रतीकों, मूर्तियों और अन्य अवशेषों को देखते हैं, तब हमें उस परंपरा की स्मृति हो जाती है कि जो मनुष्य आत्मा की श्रेष्ठता स्थापित कर लेता है और भौतिकता से अधिक आध्यात्मिकता को महत्त्व देता है, वही आदर्श मनुष्य है। इस आदर्श ने हमारे देश के धार्मिक जगत को चार या पांच सहस्राब्दियों से अनुप्राणित रखा है।

जिस महान कथन के लिए उपनिषद् संसार में विख्यात हैं, वह है : 'तत् त्वमसि'—अर्थात् 'वह तुम हो!' इस कथन में इस बात पर जोर दिया गया है कि मानव-आत्मा में देवत्व प्राप्त करने की शक्यता है। उपनिषद् हमें बताते हैं कि आत्मा को देह मत समझो, क्योंकि देह का नाश हो सकता है; इसे मन भी मत जानो, क्योंकि मन में परिवर्तन हो सकता है, उसको चाहे जिस सांचे में ढाला जा सकता है; बल्कि आत्मा तो देह के भूतावशेषों या मन की अस्थिरताओं से भी कहीं अधिक श्रेष्ठ है—वह ऐसी चीज है जो हर आदमी के पास है; एक तरह से वह अगम, अदम्य है; उसको किसी पदार्थ या विषय का रूप नहीं दिया जा सकता। ऐसा नहीं कि मनुष्य को किसी ने ब्रह्मांडीय वात्याचक्र में फेंक दिया हो। आत्मा के रूप में मनुष्य का स्थान प्राकृतिक और सामाजिक संसार के ऊपर है। जब तक हम मानव आत्मा की अंतर्मुखता को, आत्मनिष्ठता के सिद्धांत को समझ सकने के योग्य नहीं हो जाते, तब तक

हम अपने-आप को पा नहीं सकते, हम अपनी खुदी को गवां बैठेंगे। हममें से अधिकांश लोग हमेशा दुनियादारी के गोरख-धंधे में पड़े रहते हैं, भौतिक सुखों के संग्रह में अपना सारा समय तथा सारी शक्ति लगा देते हैं। स्वास्थ्य, धन, वैभव, मकान और जायदाद—ये जो सांसारिक चीजें हैं, उन्हीं में हम अपने को खो देते हैं—हम खुद उनके स्वामी नहीं बनते, उनको अपना स्वामी बन जाने देते हैं। ऐसे ही लोग अपनी आत्मा का हनन करने वाले होते हैं। उनको 'आत्महनो जनाः' कहा जाता है। यही कारण है कि हमारे देश में सदा से यह कहा जाता रहा है—आत्मा के स्वामी बनो।

सभी विज्ञानों में आत्म-विज्ञान श्रेष्ठ है। 'अध्यात्मविद्या विद्यानाम्।' उपनिषद् कहते हैं : 'आत्मानं विद्धि'—अपने-आप को जानो। शंकराचार्य आत्मिक जीवन के लिए 'आत्म-अनात्म-वस्तु विवेक' को एक अनिवार्य शर्त मानते हैं। क्या आत्म है और क्या अनात्म, इसमें भेद करने का विवेक हमें होना चाहिए। अपनी आत्मा पर अधिकार करने के सिवाय इस दुनिया में दूसरी कोई चीज बड़ी नहीं है। इस तरह विभिन्न लेखकों ने हमें बताया है कि सही अर्थों में आदमी वह है जो सांसारिक संपदा का उपयोग आत्मा की स्वाभाविक गरिमा प्राप्त करने में करता है। उपनिषद् के कई श्लोकों में यह कहा गया है कि चाहे पति हो या पत्नी या संपत्ति—ये सब, व्यक्ति के आत्म-दर्शन के लिए 'आत्मनस्तु कामाय' अवसर उपस्थित करते हैं। ये व्यक्ति के आत्म-साक्षात्कार में सहायक हो सकते हैं। जो आदमी संयम-नियम के पालन और निष्कलंक जीवन के द्वारा उच्चतम पद प्राप्त कर लेता है, वह 'परमात्मा' है। जो पूर्ण स्वातंत्र्य प्राप्त कर लेता है, वह 'अर्हत' है। 'अर्हत' पुनर्जन्म या कालाधीनता के बंधन से मुक्त हो जाता है।

महावीर में हमें एक ऐसे व्यक्ति का आदर्श मिलता है जिसने सांसारिक वस्तुओं का परित्याग कर दिया था, जो भौतिकता के बंधनों में नहीं जकड़ा था, वरन् जो अपनी आत्मा की आंतरिक गरिमा को प्राप्त करने में समर्थ था। इस आदर्श तक हम कैसे पहुंच सकते हैं? किस तरह हम इस आत्म-दर्शन, इस आत्म-नियंत्रण की स्थिति को पा सकते हैं? हमारे धर्मशास्त्र हमें बताते हैं कि यदि हम आत्मा को जानना चाहते हैं, तो श्रवण, मनन, निदिध्यासन का अभ्यास करें। भगवद्गीता में कहा है : 'तद् विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।' महावीर ने जब दर्शन, ज्ञान और चरित्र की बात कही, तब वह इन्हीं तीन सिद्धांतों पर जोर दे रहे थे। हमको इस बात पर विश्वास होना चाहिए, श्रद्धा होनी चाहिए कि सांसारिक वस्तुओं से भी श्रेष्ठ कोई चीज है। केवल श्रद्धा से, अविवेकपूर्ण अंधश्रद्धा से काम नहीं चलेगा। हमें मनन करना होगा, ज्ञान प्राप्त करना होगा। चिंतन-मनन के द्वारा हम श्रद्धा की उपज को ज्ञान की उपज में बदल दे सकते हैं। लेकिन मात्र सैद्धांतिक ज्ञान भी काफी नहीं है। 'वाक्यार्थज्ञानमौत्रेण नामृतम्'—अर्थात् धर्मशास्त्रों को पढ़ने मात्र से हम शाश्वत जीवन नहीं प्राप्त कर सकते। हमें इन सिद्धांतों का अपने निजी जीवन में समावेश करना आवश्यक है। चरित्र या आचरण भी उतना ही अत्यावश्यक है। हम आरंभ करते हैं दर्शन, प्रणिपात या श्रवण से। उसके बाद हम ज्ञान, मनन या परिप्रश्न तक आते; तत्पश्चात् हम निदिध्यासन, सेवा या चरित्र तक पहुंचते हैं। जैसा कि जैन तीर्थंकरों ने कहा है, ये चीजें अत्यावश्यक हैं।

चरित्र या सदाचार के क्या सिद्धांत हैं? जैन आचार्य हम से कई प्रतिज्ञाएं करने को कहते हैं। प्रत्येक जैन को पांच प्रतिज्ञाएं करनी पड़ती हैं : किसी की हिंसा नहीं करूंगा, असत्य नहीं बोलूंगा, जो वस्तु दी नहीं जाएगी, उसे नहीं लूंगा, ब्रह्मचर्य-पालन करूंगा और बाह्य वस्तुओं का सुख त्याग दूंगा। परंतु इन सबमें महत्त्वपूर्ण है अहिंसा की प्रतिज्ञा, किसी भी प्राणी को क्षति न पहुंचाने की प्रतिज्ञा। कुछ जैन तो अहिंसा को इस सीमा तक ले जाते हैं कि वे खेती करना तक छोड़ देते हैं, क्योंकि हल जोतने से धरती की छाती विदीर्ण होती है और कीड़े-मकोड़ों की हत्या होती है। इस संसार में रहते हुए हम हिंसा से पूर्णतः बच सकें, यह असंभव है। जैसा कि महाभारत में कहा गया है :

'जीवो जीवस्य जीवनम्।'

हमसे आशा की जाती है कि हम अहिंसा का दायरा बढ़ावें—'यत्नात् अल्पतरा भवेत्'। अपने आत्म-प्रयत्न से हमें बल-प्रयोग का दायरा घटाना चाहिए और आग्रह या अनुनय का दायरा बढ़ाना चाहिए। इस प्रकार अहिंसा ही वह आदर्श है जिसे हमने अपने सामने रखा है।

यदि हम अहिंसा के आदर्श को अपना लें तो उसके फलस्वरूप हम एक-दूसरे जैन-सिद्धांत—'अनेकांतवाद' तक पहुंचेंगे। जैन-मतावलंबी कहते हैं कि 'केवल-ज्ञान' हमारा आदर्श है। लेकिन जहां तक हमारा संबंध है, हम केवल खंड-सत्य को ही जानते हैं। वस्तु 'अनेकधर्मात्मकम्' है; उसके अनेक धर्म या पक्ष हैं; वह जटिल है; उसमें बहुत-से गुण हैं। लोग वस्तु के कभी इस पक्ष को जानने की कोशिश करते हैं और कभी उस पक्ष को, परंतु उनके विचार आंशिक, अस्थाई या प्रयोगात्मक और परिकल्पनात्मक होते हैं। इन विचारों में पूर्ण सत्य के दर्शन नहीं हो सकते। सत्य

का दर्शन तो केवल वही आत्माएं कर सकती हैं जिन्होंने अपनी तृष्णाओं पर काबू पा लिया हो। इससे एक ऐसी भावना जन्म लेती है जिससे हम विश्वास करने लगते हैं कि जिसे हम ठीक समझते हैं, वह अंततः शायद ठीक न हो। यह मानवीय परिकल्पनाओं, निराधार अनुमानों की अनिश्चितता से हमें परिचित कर देती है। इससे हमारे मन में यह बात बैठ जाती है कि हमारे दृढ़-से-दृढ़ संकल्प भी बदल सकते हैं या क्षणिक सिद्ध हो सकते हैं। जैनियों में लालबुझक्कड़ों की एक दंतकथा प्रचलित है जिसमें छह अंधे आदमी एक हाथी के बारे में अटकलें लगाते हैं। एक अंधे की पकड़ में हाथी के कान आए, उसने कहा कि यह तो सूप है। दूसरा अंधा हाथी से लिपट गया और बोला, 'यह तो खंभा है।' लेकिन उनमें से हर एक के हाथ केवल आंशिक सत्य लगा। पूर्ण सत्य को वह अंशतः ही जान पाया। किसी भी चीज के भिन्न-भिन्न पहलू आपस में विरोधी ही हों, यह जरूरी नहीं। वे आपस में उस तरह से संबंधित नहीं हैं जिस तरह प्रकाश अंधकार से संबंधित है; उनका आपसी संबंध वैसा ही है जैसा किसी 'स्पेक्ट्रम' (रंगावलि) के विभिन्न रंगों का एक-दूसरे से होता है। उनको परस्पर-विरुद्ध न मानकर केवल परस्पर-विपरीत मानना चाहिए। वे आप से भिन्न हो सकते हैं, पर विरोधी नहीं। वे सत्य के वैकल्पिक पाठ हैं।

आज विश्व एक नए जन्म की प्रसव-पीड़ा भोग रहा है। हम सबका लक्ष्य तो एक विश्व, परंतु हमारे युग का लक्षण एकता नहीं, विभेद बन गया है। दो-विश्व के ढांचे में तो हममें से कई लोगों के लिए यह प्रलोभन है कि हम एक को गलत और दूसरे को सही समझें, और जिसे गलत समझें, उसका प्रत्याख्यान करें। लेकिन इनको विकल्प मानना ही उचित है; एक प्रकार से ये एक मूलभूत सत्य के परिवर्तनशील पक्ष हैं। सत्य के किसी एक पक्ष पर जरूरत से ज्यादा जोर देना हाथी के बारे में अंधों की मान्यता से मिलती-जुलती चीज होगी। दंतकथा के अंधों में से हरेक ने हाथी के जिस अंग को छुआ, उसी के अनुरूप सारे हाथी को नाम दिया। इसी तरह हम भी खंड-सत्य को ही पूर्ण-सत्य मान लेने की भूल कर सकते हैं।

मानव-कल्याण के लिए व्यक्तिगत स्वातंत्र्य और सामाजिक न्याय-दोनों अत्यावश्यक हैं। हम चाहें तो एक को अतिरंजित कर सकते हैं या दूसरे को अवमूल्यित। परंतु जो आदमी जैन-मत के अनेकांतवाद, सप्तभंगीनय या स्याद्वाद् की धारणा का अनुसरण करता है, वह उस प्रकार का सांस्कृतिक साधारणीकरण या 'रेजिमेण्टेशन' नहीं स्वीकार करेगा। उसके और उसके प्रतिपक्षी के विचारों में से किसके विचार सही हैं और किसके गलत, इसको समझने का विवेक उसके पास होगा; फिर वह दोनों प्रकार के विचारों में समन्वय करने की चेष्टा करेगा। हमें ऐसा ही रुख अपनाना चाहिए। इसीलिए आत्म-नियंत्रण, अहिंसा के अभ्यास, सहिष्णुता तथा दूसरों के दृष्टिकोण के प्रति सहानुभूति की आवश्यकता है—ये कुछ शिक्षाएं हमें महावीर के महान जीवन से प्राप्त हो सकती हैं। ❖

कृपया ध्यान दें

जैन भारती के लिए रचनाएं भेजते समय कृपया निम्नोक्त बिंदुओं का अवश्य ध्यान रखें--

● आपकी रचना कम से कम 1500-2000 शब्दों से लेकर 2500-3000 शब्दों के मध्य हो। कुछेक आलेख जैन भारती के एक पृष्ठ से भी कम आकार के होते हैं, जो हमारे लिए अपर्याप्त हैं। जैन भारती के लिए ऐसे आलेख काम में लेना संभव नहीं। अतः इतने छोटे आलेख न भेजें।

●● रचनाएं 'फुल स्केप' कागज पर एक तरफ हाथ से लिखी या टाइप की हुई हों। पूरा हाशिया अवश्य छोड़ें। दो पंक्तियों के बीच भी पर्याप्त स्थान होना जरूरी है।

●●● फोटोकॉपी न भेजें अथवा सुस्पष्ट हो तो ही भेजें।

कृपया उपरोक्त हिदायतों की ओर पूरा ध्यान देकर हमें सहयोग करें।

कई लोग सुख का अर्थ स्थूल रूप में लेकर उसका संबंध मन के सुख-दुख के साथ जोड़ते हैं। किंतु मन और शरीर के सुख-दुखों से परे यह अन्य प्रकार की सुस्थिर रहने वाली, सतत टिकने वाली अवस्था का सुख है, जिसे संतोष या समाधान कहा जाता है। संतोषवृत्ति के कारण प्राप्त सुख आत्मबोध प्राप्ति की अनुभूति का सुख आनंद है जिससे मनुष्य ऊबता नहीं है।

❑❑

अभिधेयं परम साम्यं

❑

• ज्योति पाटणकर

❑❑

गहन साधना और जीवन के आध्यात्मिक प्रयोगों में से निकला सार-भूत रहस्य कुछ चुने हुए वाक्यों या सूत्रों में रख देने की प्रथा हमारे देश में पुराने समय से चली आ रही है। वेदोपनिषदों का सार-सर्वस्व हमें सूक्त और मंत्रों में मिलता है, गीता का ज्ञान श्लोकों में लिखा गया और पतंजलि जैसे महामुनियों ने जीवन-साधना के सारे गूढ़ अर्थ सूत्रों में रख दिए हैं। सूत्र शब्द का अर्थ ही है सूचन करना। सूचनात् सूत्रम्—जो सूचन करता है वह सूत्र। योगसूत्रों के रचयिता महामुनि पतंजलि का जन्म आज से लगभग दो हजार वर्ष से भी पहले हुआ था। वे समाधि के एक अनुभवी पुरुष थे और मालूम होता है अपने अनुभवों के आधार पर ही उन्होंने इन सूत्रों की रचना की है। उन्होंने योगसूत्रों के रूप में भारतीय विचारधारा को एक अद्वितीय रूप प्रदान किया है। मन, बुद्धि और चित्त की अंतर्बाह्य, स्थूल-सूक्ष्म अनेक वृत्ति और प्रवृत्ति में मानव मात्र सदा उलझता रहता है। इस उलझन में पड़कर सुख-दुख, हर्ष-शोक, राग-द्वेष के उतार-चढ़ाव और बहावों में बहता रहता है।

किंतु इन सबसे परे उसके अपने मूल स्वरूप परम आनंदमय आत्मस्वरूप का स्थान कहीं अन्य है, इसका उसे भान भी नहीं रहता। चित्त में उठने वाली इन सब वृत्तियों का निरोध ही जीवन की सच्ची साधना है। इन सब वृत्तियों को संयमित करके सही दिशा प्रदान करते जाने से संतोष-सुख का लाभ मनुष्य को मिलता जाता है। पतंजलि योग दर्शन सूत्रों में चित्त की वृत्तियों का सूक्ष्म-विश्लेषण, उनके विकास की शृंखलाबद्ध पद्धति अनेक साधन-सूत्रों द्वारा विस्तार से बतलाई गई है। अभ्यास और वैराग्य—दो साधनों का दृढ़ आधार लेकर उन्होंने साधनपाद इस विभाग में विस्तार से विवेचन किया है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार के मार्ग पर चलते हुए क्रमशः आगे ध्यान-धारणा और समाधि तक पहुंचने का मार्ग साधक, जिज्ञासुओं के लिए बता दिया गया है। इन सबके आधार से संतोषवृत्ति प्राप्त करके परम सुख प्राप्ति का साधन उन्होंने बताया है। ध्यानजन्य-समाधि की शास्त्रीय प्रक्रिया का प्रतिपादन इस योगशास्त्र की विशेषता मानी जा सकती है।

किसी एक महान विचार या दर्शन को छोटे वाक्य या सूत्र में बता देने पर आगे अध्ययन, चिंतन और प्रयोग करने वाले साधक अपनी बुद्धि, शक्ति और सामर्थ्य द्वारा उन सूत्रों पर चिंतन करते थे, सूत्रों का मूल अर्थ खोजने के लिए साधना-तप करते और उसके आधार से प्रयोग करके अपने स्वयं के जीवन में उसे साधते और समाज के सामने रखते जाते। 'संतोषः परम सुखम्' भी ऐसा ही एक सूत्र है, जिसे महामुनि पतंजलि ने योग दर्शन के द्वितीय विभाग साधनपाद में स्थान दिया है। वहां वह संस्कृत में आया है—'संतोषादनुत्तमः सुख लाभः'—जिससे अधिक श्रेष्ठ ऐसा सुख नहीं। वह अनुत्तम सुख है, ऐसे अनुत्तम सुख का लाभ संतोषवृत्ति सुस्थिर होने से होता है। प्राप्त परिस्थिति में आनंद मानना यह संतोष का लक्षण है। ऐसी संतोषवृत्ति निरंतर रहने लगी यानी अंतःकरण में विषयों की ओर का खिंचाव क्रमशः कम होता जाता है और यह खिंचाव फिर खत्म हो जाता है। इस अवस्था को तृष्णाक्षय भी कहा गया है। तृष्णाक्षय होने के बाद शुद्ध-निर्मल चित्त की स्थिति में आत्मस्वरूप सहज आनंद की अनुभूति होने लगती है। चूंकि यह आनंद किसी बाह्य परिस्थिति पर अवलंबित नहीं है, हमेशा टिकने वाला सुख है। इस प्रकार

का सहज आनंद यदि चित्त में स्थित होने लगे तब संतोष व्रत मजबूत हुआ, ऐसा मान सकते हैं। कई लोग सुख का अर्थ स्थूल रूप में लेकर उसका संबंध मन के सुख-दुख के साथ जोड़ते हैं। किंतु मन और शरीर के सुख-दुखों से परे यह अन्य प्रकार की सुस्थिर रहने वाली, सतत टिकने वाली अवस्था का सुख है, जिसे संतोष या समाधान कहा जाता है। संतोषवृत्ति के कारण प्राप्त सुख आत्मबोध प्राप्ति की अनुभूति का सुख आनंद है जिससे मनुष्य ऊबता नहीं है। राम-वनवास का वर्णन. करते हुए तुलसीदासजी ने श्लोक लिखा है—

प्रसन्नतां या नगताभिषेकतः तथा नमम्लेवनवास दुःखतः।

राज्याभिषेक की बात सुनकर जिस पर प्रसन्नता नहीं उमड़ी और वनवास का कष्ट सामने खड़ा होते हुए भी विषाद की छाया नहीं पड़ी। विनोबाजी ने इस श्लोक के 'प्रसन्नता' शब्द पर विवेचन करते हुए लिखा है—'मैं तुलसीदासजी से सिफारिश करूंगा कि वे 'प्रसन्नतां या नगतां' की जगह 'प्रहृष्टतां या नगतां' का प्रयोग करें। श्रीराम की मुखमुद्रा हर्ष-विषाद रहित थी, यही वे कहना चाहते थे। इसी को वे प्रसन्नता—इस नाम से संबोधित करना चाहते थे। प्रसन्नता का अर्थ ही है हर्ष-विषाद रहित निर्विकारता, शांति, गांभीर्य'। गीता में ऐसे सुख के लिए प्रसाद, प्रसन्नता शब्द का उपयोग किया गया है।

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते,
प्रसन्न चेतसोह्याशु बुद्धिपर्यवतिष्ठते।

गीता के चौथे अध्याय में आया है—

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वंद्वातीवो विमत्सरः,
समःसिद्धावसिद्धौ चकृत्वापि न निबध्यते।

अपने-आप प्रवाह से जो प्राप्त हो जाए, उसमें संतोष मान लेने वाला और हर्ष, शोकादि द्वंद्वों से अतीत हुआ तथा ईर्षा, मत्सरता से रहित, सिद्धि-असिद्धि में समत्व भाव रखने वाला पुरुष कर्म करके भी उसके बंधन में नहीं बंधता है। विनोबाजी द्वारा रचित मराठी गीताई में इस श्लोक की रचना में यदृच्छालाभ संतुष्टो का भावानुवाद— 'मिळेतेंचिकरी गोड' इन शब्दों में किया गया है। जो मिलता है उसे ही मीठा कर लो। जो सहज प्राप्त है उसमें परम सुख मान लेने की साधन-परंपरा में महामुनि पतंजलि ने 'कायेन्द्रि सिद्धिः अशुद्धिक्षयात् तपसः' ऐसा बताया है। 'इन्द्रिय जयात्म दर्शन-योग्यत्वानि च' कहा है। इन सूत्रों के आधार से संतोष-सुख के लाभ का मार्ग क्रमशः प्रशस्त किया गया है।

विनोबाजी की साहित्यशक्ति और शब्दशक्ति का भंडार विपुल है, व्यापक है, किंतु उनके अध्ययन, अध्यापन की पद्धति सूत्र रूप में रही है। उनके अधिकांश धर्मग्रंथों को देखने पर पता चलता है कि उन्होंने वह पूरा विषय या पूरा ग्रंथ छोटे-बड़े सूत्रों में विभाजित किया है और इन सूत्रों का विस्तार करके पूरे ग्रंथ को सरल भाषा और अर्थ में समझाकर समाज के सामने रख दिया है।

गीता को विनोबाजी ने साम्ययोग नाम दिया है और संपूर्ण गीता प्रवचन को उन्होंने 108 सूत्रों में गूंथा है। साम्यसूत्र का प्रथम सूत्र ही ऐसा है, जिसमें सारे जीवन का सार आ गया है। 'अभिधेयं परम साम्यं'—जीवन का अभिधेय ही परम साम्य है। विनोबाजी ने साम्य शब्द पर बहुत जोर दिया है, उतना ही जोर परम शब्द पर भी दिया है। वे कहते हैं—'परम साम्य में परम शब्द महत्त्व का है।' इसे परम साम्य का रूप दिए जाने पर यह केवल आर्थिक या सामाजिक अर्थ में ही नहीं रहता। आर्थिक, सामाजिक साम्य को साधते हुए इन दो के अलावा इनसे बढ़कर तीसरा साम्य भी है। मन का संतुलन या 'मानसिक साम्य'। और इन तीनों साम्यों से परे कोई एक उद्देश्य या हेतु है, वह है 'परम साम्य'। आर्थिक साम्य द्वारा जीवन का हर व्यवहार संतुलित होता है, सामाजिक साम्य द्वारा समाज में एक व्यवस्था निर्माण होती है, मनुष्य अपनी मनबुद्धि के नियंत्रण और संतुलन द्वारा मानसिक संतुलन साधता है जो मनुष्य के जीवन का महत्त्वपूर्ण विषय है, अन्यथा मनुष्य संतोष-सुख की चाह मन में रखकर भी दुख ही प्राप्त करता रहेगा। वास्तव में जितने भी योग हैं—सभी मन, बुद्धि, चित्त का समाधान और सुख प्राप्त करने में सहायक हैं। चित्त का समाधान, संतोष-संतुलन ही मनुष्य के परम साम्य की अवस्था है। अर्थात् जीवन में उपयुक्त छोटे साम्यों का उपयोग करते हुए परम संतोष-सुख या समाधान तक पहुंचने के प्रयत्नों को अभिधेयं परम साम्यं का व्यावहारिक स्वरूप माना जा सकता है। इसे गीता ने 'निर्दोषं ही समंब्रह्म' भी कहा है। यह केवल ध्यान या दृष्टि का विषय नहीं, कुल जीवन के चिंतन का विषय है। हम सभी की जीवन विषयक दृष्टि, सृष्टि, समाज और मानव के साथ के व्यवहार संबंधी आध्यात्मिक दृष्टि ही जीवन के परम सुख को प्राप्त करने में सहायक हो सकती है। भिन्न-भिन्न प्रकार से अपनाए गए साधना-सूत्रों के आधार से संतोषवृत्ति को दृढ़ और सुदृढ़ करते जाना ही मानव मात्र का ध्येय है, जिसके सहारे परम सुखानंद को हम सृष्टि और समाज में बिखेरते हुए आदर्श समाज-रचना और विश्व-एकता की दिशा में तेजी से कदम बढ़ा सकेंगे। ❖

अनुभूति

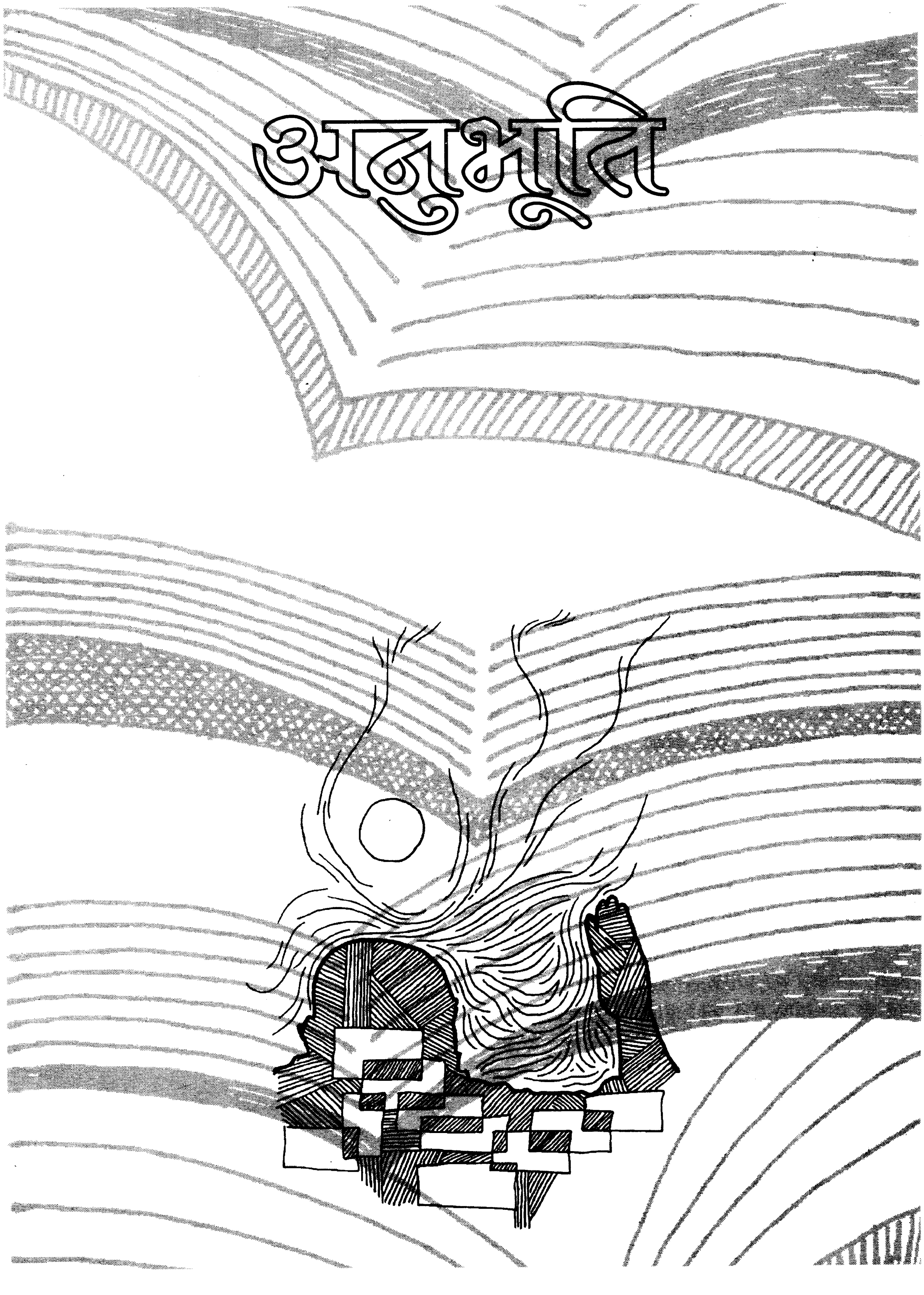

'अंतर्मुख होकर, कोई विमुख कैसे रह सकता है? जो उन्मुख नहीं, वह अंतर्मुख नहीं अधोमुख लगता है मुझे। शुतुरमुर्ग की तरह। स्त्री को सम्मुख लोगे, तो वह अनायास भीतर समा जाएगी और रिक्त भरकर मुक्त कर देगी। जीवन की अभिव्यक्ति में 'वह एक' ही तो दो, और फिर बहु हुआ है। रिक्त और विरह भीतर दिया गया है, कि जीवन उस व्यथा में से रस खींचकर वर्द्धमान हो। विरह जहां तीव्रतम है, वहीं पूर्णतम मिलन संभव है।...नारी को सामने पाकर, शायद तुम भूल जाते हो कि 'वह एक' ही तो दो हुआ है : नर और नारी। तब इनमें से केवल एक यानी अर्द्धांग पर ही निगाह रखकर, उसकी जो उत्तरांशिनी बाहर चली आई है जीवन की लीला के लिए, उसे अन्य या पर समझकर उससे विमुख होओगे, तो अखंड और पूर्ण कैसे हो सकोगे? सम्मुख होकर ही तो वह संपूर्ति संभव है। ब्रह्मचर्य और किसे कहते हैं? तुम ब्रह्म हो, तो नारी उसकी चर्या है, कहें कि ब्रह्म की चर्या उसी में होकर संभव है। वह तुम्हारे ब्रह्मचर्य की भूमि और कसौटी एक साथ है। जब तक नारी तुम्हारी दृष्टि में अन्य है, द्वितीय पुरुष है, तब तक ब्रह्मचर्य नहीं, अब्रह्मचर्य ही बना रहता है। इसी से कहता हूं, जब तक उससे बचोगे, वह बाधा ही बनी रहेगी। तब एकमेव ब्रह्म में चर्या और मिलन कैसे संभव होगा?'

—वीरेंद्रकुमार जैन

'अनुत्तर योगी : तीर्थंकर महावीर' से

जो बात उनके ध्यान में आ जाती, उसकी पूरी व्यवस्था स्वयं करवा देते थे। पांच-सात दिनों के अंतराल बाद पुनः पूछा—'क्यों, अब तो क्रम अच्छी तरह से चल रहा है?' फिर निवेदन किया कि जितने दिन चला, बहुत अच्छा चला, किंतु अन्य कार्य में व्यस्त होने की वजह से उनके पास भी अब समय नहीं है। यह सुनते ही गुरुदेव ने तुरंत फरमाया—'जब किसी के पास समय नहीं है तो हमारे पास समय है। शाम के आहार के पश्चात् अध्ययन करवाएंगे।'

❑❑

तुलसी पौशाल का वैशिष्ट्य

❑

समणी मंगलप्रज्ञा

❑❑

जैन दर्शन में तत्त्व के अवबोध के लिए प्रमाण एवं नय को साधनभूत माना गया है—प्रमाणनयैरधिगमः। प्रमाण अखंडवस्तु का ग्राहक होता है। नय वस्तु के एक अंश को ग्रहण करता है। आचार्यश्री तुलसी के व्यक्तित्व को नयग्राही दृष्टि से देखने पर संतोष नहीं होता। उस व्यक्तित्व का संपूर्णता से ग्रहण तो प्रमाण के माध्यम से ही हो सकता है। संपूर्ण प्रमाण केवलज्ञान ही होता है, वह हमारे पास नहीं है। व्यवहार-जगत का संचालन नय विधि से ही सम्यक् प्रकार से हो सकता है और छद्मस्थ के व्यवहार के लिए मुख्य दृष्टि नय ही है और व्यवहार की इस कठिनाई का अनुभव करते हुए 'प्रमाणपुरुष आचार्यश्री तुलसी' की नयपुरुष के रूप में अभिवंदना की जा सकती है।

आचार्यश्री तुलसी के व्यक्तित्व को किस उपमा से उपमित किया जाए, यह सोचने पर सारी उपमाएं एकांगी प्रतीत होती हैं। आचार्यश्री तुलसी का परिचय 'आचार्य तुलसी' ही अपने में पर्याप्त है। उनके अनेकांती व्यक्तित्व को एकांती उपमाएं कैसे उपमित कर सकती हैं? सागर के समान गंभीर कहने पर उनका अद्रिवत् तुंगत्व का गुण ओझल हो जाता है। पर्वत के समान उन्नत कहने पर उनका गांभीर्य गुण परदे की ओट में चला जाता है। सूर्य के समान तेजस्वी कहने पर उनका सौम्य गुण अपनी अभिव्यक्ति के लिए मचल उठता है। तब भला उस अनुपमेय व्यक्तित्व का मापन कैसे हो? अतः कहा जाना चाहिए—'आचार्य तुलसी कैसे (?), आचार्य तुलसी जैसे।' यह बात लिखते समय प्रस्तुत श्लोक स्मृति-पटल पर रेखांकित हो जाता है—

गगनं गगनाकारं, सागरः सागरोपमः।
रामरावणयोर्युद्धं, रामरावणयोः समः।।

आचार्यश्री तुलसी बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। इस बहुआयामी प्रतिभा ने अपने जीवनकाल में विभिन्न एवं अनेक नवीन आयामों का उद्घाटन किया। सृष्टि के हित संपादन में उन्होंने अनेक अवदान दिए। उन सब अवदानों का विवेचन एक लेख में कैसे हो सकता है?

एक अनुपम प्रशिक्षक के रूप में आचार्यश्री तुलसी के अवदानों की चर्चा प्रासंगिक होगी, क्योंकि शिक्षण-प्रशिक्षण उनका नैसर्गिक गुण था। अपनी कृति 'व्यवहार बोध' में उल्लेख करते हुए उन्होंने स्वयं कहा है—

शिक्षण और प्रशिक्षण की,
नैसर्गिक वृत्ति रही मेरी।

शिक्षण और प्रशिक्षण की उनकी प्रवृत्ति ध्रुव तारे की तरह प्रारंभ से लेकर अंत तक अटल रही।

मुनि बनने से पहले ही वे अध्यापन जगत से जुड़ गए। 'मेरा जीवन मेरा दर्शन' ग्रंथ में अपने स्कूली जीवन का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है—'स्कूल में अध्यापक एक ही थे, इसलिए अध्यापन कार्य में कुछ चुने हुए विद्यार्थियों का सहयोग लिया जाता था। मैं अपने-आप को सौभाग्यशाली मानता हूं कि उन विद्यार्थियों में एक नाम मेरा भी था। मुझे अपने क्लास का 'मॉनीटर' बना दिया गया। अमुक-अमुक बच्चों का ध्यान रखने की मुझ पर विशेष जिम्मेवारी थी। उन्हें पढ़ाने के साथ-साथ मैं उन पर अनुशासन भी करता था।'

आचार्यश्री तुलसी का यही अध्यापन-कौशल कालांतर में निरंतर विकसित होता रहा है। दीक्षा लेने के तीन वर्ष पश्चात् मात्र चौदह वर्ष की उम्र में तत्कालीन आचार्य पूज्य कालूगणी ने एक बाल-मुनि सोहनलाल को सौंपते हुए मुनि तुलसी को अध्यापन जगत से जोड़ दिया। फिर तो यह क्रम 'तुलसी पोशाल' के रूप में व्यवस्थित ढंग से चलने लगा। तेरापंथ धर्मसंघ के इस 'तुलसी-पोशाल' में बहुश्रुत मुनियों की एक लंबी श्रृंखला का निर्माण हुआ। तेरापंथ के वर्तमान अधिशास्ता आचार्यश्री महाप्रज्ञजी उसी तुलसी पोशाल के देदीप्यमान नक्षत्र हैं। मुंबई महानगर में भारतीय विद्याभवन में आयोजित एक संस्कृत संगोष्ठी में संस्कृत भाषा में धाराप्रवाह बोलकर तथा आशु कविता करके मुनि नथमल (आचार्यश्री महाप्रज्ञजी) ने जब विद्वानों को चमत्कृत कर दिया तो वहां के प्रोफेसर्स उनसे पूछ बैठे कि आपका अध्ययन किस विश्वविद्यालय में हुआ है? उस समय मुनि नथमलजी ने इसी 'तुलसी पोशाल' को 'तुलसी विश्वविद्यालय' के रूप में प्रस्तुत कर दिया। उस 'तुलसी पोशाल' को देख-देखकर 'हेम पोशाल' की छवि कइयों की आंखों के आगे चित्रित होती रही है।

आचार्यश्री तुलसी की अध्यापन-शैली बहुत ही प्रभावशाली और विषय को स्पष्टता देने वाली होती थी। दर्शन जैसे गहन-गंभीर विषय भी उनकी अध्यापन शैली में विद्यार्थी के लिए सहज ग्राह्य बन जाते थे। व्याकरण, दर्शन, साहित्य, इतिहास, तत्त्वज्ञान, आगम आदि सभी विषयों पर आपकी गहरी पकड़ थी। इन सभी विषयों का अध्यापन करने में आपको सिद्धहस्तता प्राप्त थी। तेरापंथ धर्मसंघ में दीक्षित सैकड़ों-सैकड़ों साधु-साध्वियों, समणियों, मुमुक्षुओं को उनके उपपात में बैठकर उनकी वाचना ग्रहण करने का सुअवसर प्राप्त हुआ है। यह लेखिका भी अपना सौभाग्य मानती है कि उस महापुरुष के श्रीमुख से अनेक ग्रंथों की वाचना प्राप्त करने का आह्लादकारी सुअवसर इसे भी प्राप्त हुआ। अध्यापनकाल की अनेक स्मृतियां आज भी आह्लाद एवं आनंद उत्पन्न करती हैं। उस समय में घटित अनेक ऐसे संस्मरण, जो लिखे जाएं तो शिक्षाशास्त्र पर पठनीय ग्रंथ तैयार हो जाए। एक घटना का उल्लेख पर्याप्त होगा—इस लेखिका के दीक्षा ग्रहण करने के कुछ ही महीनों बाद आचार्यश्री तुलसी से यह निर्देश प्राप्त हुआ कि पारमार्थिक शिक्षण संस्था में 'स्याद्वाद मंजरी' ग्रंथ मुमुक्षु बहनों को पढ़ाना है। 'स्याद्वाद मंजरी' जैन दर्शन का एक प्रौढ़ ग्रंथ है। शब्दशः उसका अर्थ करवाते हुए अध्ययन करवाना था। यह ग्रंथ पढ़ाना शुरू करने से पहले स्वयं ही पारायण करना प्रारंभ किया। उस दौरान यह अनुभव हुआ कि ग्रंथ के अनेक स्थल भाषा एवं विचार की दृष्टि से अस्पष्ट हैं। प्रयत्न करने पर भी स्पष्टता नहीं हो पा रही थी। गुरुदेव से निवेदन किया कि स्वयं को ही यह ग्रंथ समझ में नहीं आ रहा है, फिर बहनों को कैसे पढ़ाऊं? गुरुदेव का चातुर्मास उस समय आमेट में था। गुरुदेव ने फरमाया—जो भी अस्पष्ट स्थल हैं, अमुक से पूछ लेना, स्पष्टता हो जाएगी। यह क्रम भी शुरू हुआ, किंतु आगे नहीं बढ़ पाया। गुरुदेव ने पुछवाया—'क्यों? अध्ययन ठीक चल रहा है न?' जैसी स्थिति थी निवेदित की गई। गुरुवर ने अन्य नाम सुझाया। गुरुवर के निर्देश से उन्होंने भी पढ़ाना शुरू किया, किंतु अन्य कार्यों में व्यस्तता होने के कारण वे चाहते हुए भी समय नहीं दे पाए। अतः अध्ययन का क्रम रुक गया।

गुरुदेवश्री का यह वैशिष्ट्य ही था कि जो बात उनके ध्यान में आ जाती, उसकी पूरी व्यवस्था स्वयं करवा देते थे। पांच-सात दिनों के अंतराल बाद पुनः पूछा—'क्यों, अब तो क्रम अच्छी तरह से चल रहा है?' फिर निवेदन किया कि जितने दिन चला, बहुत अच्छा चला, किंतु अन्य कार्य में व्यस्त होने की वजह से उनके पास भी अब समय नहीं है। यह सुनते ही गुरुदेव ने तुरंत फरमाया—'जब किसी के पास समय नहीं है तो हमारे पास समय है। शाम के आहार के पश्चात् अध्ययन करवाएंगे।' ये शब्द सुनते ही किसका अंतःकरण बांसों नहीं उछलेगा? गुरुदेव ने स्वयं 'स्याद्वाद मंजरी' की आठवीं कारिका की शब्दशः वाचना दिरवाई। वह दृश्य अनेक बार आंखों के सामने नाच उठता है। उस महापुरुष के प्रति मन कृतज्ञता से भर जाता है। इस घटना से यह बात समझ में आती है कि किस प्रकार संघ के छोटे-से-छोटे सदस्य के निर्माण में वे जागरूक रहते थे।

उनकी अध्यापन-शैली में प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति के तत्त्व सन्निहित थे। प्राचीन जैन साहित्य में अध्यापन-शैली का निरूपण करने वाले एक श्लोक का उल्लेख हुआ है—

संहिता च पदं चैव पदार्थः पदविग्रहः
चालना प्रत्यवस्थानं च व्याख्या तन्त्रस्य षड्विधा।।

इस श्लोक में शिक्षण के छह तत्त्वों का क्रमिक उल्लेख है। गुरुदेव की अध्यापन-शैली में इन छहों तत्त्वों का समावेश था। इनमें प्रथम है—संहिता—अर्थात् शुद्ध उच्चारण। उच्चारण-शुद्धि पर गुरुदेव का विशेष ध्यान रहता था। आप फरमाया करते थे कि जब भी अशुद्ध उच्चारण कोई करता है तो वह मेरे कानों में कांटे की तरह खटकता है। जब तक उच्चारण शुद्ध नहीं हो जाता तब तक गुरुदेव उस शब्द का

स्वयं उच्चारण करके विद्यार्थी से बार-बार बुलवाते रहते, पूरा संतोष होने तक यह क्रम चलता ही रहता।

आचार्यश्री तुलसी का प्रारंभ से ही अध्यापन प्रिय विषय रहा और जीवन के अंतिम क्षण तक वह बना रहा। इसका आभास उनके महाप्रयाण के दिन घटित होने वाली शिक्षण संबंधी घटनाएं हैं। 'श्रद्धोपनिषत्' में गुरुदेव के महाप्रयाण दिवस के रोज घटित होने वाले तथ्यों का क्रमवार उल्लेख है। उनमें से शिक्षा से जुड़ी घटना का उल्लेख इस प्रकार है—'23 जून, 1997, 9.00 बजे। पूज्य गुरुदेव ने अध्ययन करने वाले बाल-साधुओं से कहा—'आ जाओ।' मुनि दिनेशकुमार, मुनि कुमारश्रमण, मुनि हिमांशुकुमार, मुनि योगेशकुमार और मुनि आलोककुमार आए। वंदना कर गुरुदेव की सन्निधि में बैठ गए।

गुरुदेव—'जंबू कहां है?' गुरुदेव के आह्वान को सुन बाल-मुनि जंबूकुमार आए। बोले—'गुरुदेव, मैं यहां हूं।'

गुरुदेव—'क्या कर रहे हो?'

बाल-मुनि—'आज विहार है। इसलिए विहार की तैयारी कर रहा हूं।'

गुरुदेव—'इतनी जल्दी क्या है?'

बाल-मुनि—'तहत् गुरुदेव।'

गुरुदेव—'जाओ, अभी सीखो, अध्ययन करो।'

गुरुदेव ने दशवैकालिक सूत्र के इस पद्य की तब अर्थ सहित वाचना दी थी—

अप्पणट्ठा परट्ठा वा, कोहा वा जइवाभया।
हिंसगं नो मुसं बूया, नो वि अन्नं वयावए।।

मृषा शब्द की व्याख्या करते हुए गुरुदेव ने कहा—'मृषा का अर्थ है असत्य। आगम का शब्द है मृषा। मुनि अपने लिए झूठ न बोले, दूसरों के लिए झूठ न बोले, क्रोध के आवेश में झूठ न बोले, भयवश झूठ न बोले और हिंसाकारी झूठ न बोले। मृषा हिंसाकारिणी है। व्यक्ति झूठ बोलता है और हिंसा का प्रसंग बन जाता है। गृहस्थ लोग व्यापार-व्यवस्था में झूठ से प्रायः बच नहीं पाते, किंतु एक मुनि को झूठ से सदा बचना चाहिए। साधु महाव्रती है और गृहस्थ अणुव्रती। एक गृहस्थ को भी जहां तक हो सके, सत्य बोलने का प्रयत्न करना चाहिए। एक साधु के लिए यह पद्य बहुत उपयोगी है, सदा आचरणीय है।'

इस व्याख्या के पश्चात् बाल-साधुओं ने उक्त पद्य का सस्वर उच्चारण किया। गुरुदेव—'छोटे बच्चों को ऐसे पद्य कंठस्थ हो जाएं तो कितना अच्छा हो।'

गुरुदेव ने मुनि कुमारश्रमण से कहा—'तुम लोगस्स का पाठ बोलो।' मुनि कुमारश्रमण ने लोगस्स का पाठ उच्चारण किया।

गुरुदेव—'एकदम शुद्ध नहीं है। तीन-चार जगह गलतियां हैं। एकदम शुद्ध उच्चारण होना चाहिए।' तब स्वयं गुरुदेव ने लोगस्स का सस्वर उच्चारण किया। उच्चारण के समय गुरुदेव भावविभोर हो उठे थे। पाठ संपन्न कर गुरुदेव ने कहा—'उच्चारण ऐसा शुद्ध होना चाहिए। शुद्ध उच्चारण का बड़ा भारी लाभ होता है।'

अंत समय तक गुरुदेव अध्ययन की प्रेरणा देते रहे। गुरुदेव ने मुनि जंबूकुमार को अध्ययन की प्रेरणा दी, मुनि आलोककुमार को कालु कौमुदी के सूत्र पढ़ाए। उस प्रेरणा-पुरुष के प्रेरक आलोक ने हजारों-हजारों दीपों को प्रज्वलित किया है। आचार्यश्री तुलसी ने अपने जीवन के बहुमूल्य क्षणों का नियोजन दूसरों के व्यक्तित्व-निर्माण में किया था। उसी का फल है कि आज तेरापंथ धर्मसंघ के नंदनवन में उनके द्वारा उप्त, सिंचित, पल्लवित, कुसुमित एवं फलित वृक्ष अनेक प्रकार से अनेक क्षेत्रों में छाया एवं शीतलता प्रदान कर रहे हैं।

आचार्यश्री तुलसी का जन्मदिवस अणुव्रत-दिवस के रूप में मनाया जाता रहा है। चारित्रिक विकास के लिए किया गया उनका अथक एवं अकथ श्रम आज भी मानवता का मार्गदर्शन कर रहा है। अणुव्रत आंदोलन के माध्यम से हजारों-हजारों व्यक्तियों को चरित्र-निर्माण का शिक्षण एवं प्रशिक्षण हुआ है।

जैन दर्शन में दो प्रकार की शिक्षा का उल्लेख हुआ है—ग्रहण शिक्षा एवं आसेवन शिक्षा। ग्रहण शिक्षा पुस्तकीय ज्ञान तक ही सीमित है। आसेवन शिक्षा का संबंध व्यक्ति के आचरण से है। आचार्यश्री तुलसी दोनों प्रकार की शिक्षा का प्रशिक्षण देने में कुशल थे। जब वे अध्यापन करवाते थे तो उस समय उनके मुंह से मात्र शब्द ही नहीं निकलते थे, शरीर का रोम-रोम श्रोता से बात करता प्रतीत होता था। उनका शिक्षण द्रव्य-क्रिया नहीं था, अपितु भाव-क्रिया से संवलित था। आज आचार्यश्री तुलसी सदेह हमारे मध्य विद्यमान नहीं हैं, किंतु उनके तपोबल से निःसृत अध्यात्म के शुभ्र एवं शीतल परमाणु अब भी अशांत विश्व को शांति का प्रशिक्षण दे रहे हैं। उनके जन्मोत्सव के उपलक्ष्य में यही मंगल कामना होनी चाहिए कि उस दिव्य ज्योति के आभावलय से प्रस्फुटित ज्ञान एवं अध्यात्म का प्रकाश सबका पथ-दर्शन करता रहे, पथ-प्रशस्त करता रहे। ❖

आचार्यश्री तुलसी धर्म के उसी विचार को उच्च एवं उपयोगी मानते थे जो हमारे आचरण में उतरे। धर्मशास्त्र में लिखे आदर्श यदि आचरण में नहीं हैं तो कवि की दृष्टि में वह केवल तोता-रटंत है। महावीरप्रसाद द्विवेदी का यह वक्तव्य भी इसी बात की पुष्टि करता है—'चिंतन वही उच्च है, जो लोकमंगल विधायक हो और ऐसा चिंतन जब तक आचरण में मूर्त न हो जाए, तब तक उसकी चरितार्थता ही क्या है।' और व्यवहार के बीच पड़ी खाई को मिटाने के लिए उनकी काव्यमई सशक्त आवाज मन को झंकृत करने वाली है।

❑❑

धर्मक्रांति के स्वर काव्यधारा में

❑

समणी कुसुमप्रज्ञा

❑❑

श्री अरविंद काव्य को सर्वोत्तम मंत्र मानते थे और कविता को गहनतम आध्यात्मिक सत्य की अभिव्यक्ति के रूप में स्वीकार करते थे। मैथ्यु आर्नल्ड के अनुसार नैतिक विचारों के प्रति विद्रोह की कविता जीवन के प्रति विद्रोह है और नैतिक तथा आध्यात्मिक विचारों के प्रति उपेक्षा भाव वाली कविता जीवन के प्रति उपेक्षा है। बायरन ने नैतिक काव्य को सर्वश्रेष्ठ माना है। कवि का अनुभव जितना व्यापक होगा, उसके नीति-कथन भी उतने ही व्यापक होंगे।

गुरुदेव तुलसी आध्यात्मिक अनुशास्ता थे। उनका संपूर्ण गीत साहित्य अध्यात्म की उच्चतम भूमिका पर प्रतिष्ठित है। स्वामी रामतीर्थ के अनुसार केवल आत्मज्ञान ही ऐसा तत्त्व है, जो हमें सब जरूरतों से दूर कर सकता है। आचार्यश्री तुलसी के अनुसार व्यक्ति स्वयं को नहीं पहचानता इसीलिए वह दर-दर भटकता है। अतः आत्मस्वरूप का बोध ही सबसे बड़ा बोध है। आचार्यश्री तुलसी के जागृत आत्मबोध के बारे में साध्वीप्रमुखाश्री कनकप्रभाजी का मंतव्य पठनीय है—'उन्होंने कभी रुकना नहीं सीखा, हटना नहीं सीखा, मुड़ना नहीं सीखा, लौटना नहीं सीखा। उनका पुरुषार्थ उनके फौलादी व्यक्तित्व की जीवंत कहानी है। किंतु एक बिंदु पर आकर वे रुकते थे, हटते थे, मुड़ते थे और वापस भी लौट जाते थे। वह बिंदु था—आत्मबोध।' जिस क्षण उन्हें यह एहसास हो जाता कि अमुक रास्ता अस्तित्वबोध की मंजिल तक नहीं जाता, वे तत्काल रुक जाते थे। अध्यात्म का रस स्वयं चखने के बाद दूसरों को भी उस रस की अनुभूति कराने के लिए उनका मन उत्कंठित हो उठता था। वे कहते थे—'मेरा सबसे अधिक आकर्षण और विश्वास अध्यात्म-शक्ति पर है। मेरे जीवन की सबसे बड़ी साध है कि मैं अध्यात्म को तेजस्वी और ओजस्वी रूप में देखूं। जिस दिन ऐसा होगा, मैं कृतकृत्य हो जाऊंगा। यदि ऐसा नहीं होगा तो न जाने इस दुनिया की क्या गति होगी। लोग दुर्दिन की कल्पना करते हैं, किंतु मैं अध्यात्म के अभाव को ही बड़ा दुर्दिन मानता हूं।' आत्मलक्ष्य के प्रति उनकी जागरूकता निम्न पंक्तियों में पठनीय है—

आत्मलक्ष्य के सम्मुख सभी लक्ष्य फीके लगते हैं,
मिथ्या मानदंड उन्नति के निज को ही ठगते हैं।

आचार्यश्री तुलसी नैतिकता के अग्रदूत थे। नैतिकता की पुनः प्रतिष्ठा करने में उन्होंने समूची शक्ति लगा दी। उनके प्रवचनों और गीत साहित्य ने नैतिक मूल्यों की स्थापना में महती भूमिका निभाई है। उनके नीतिपरक गीतों में सुख-दुखमिश्रित जीवन के गहरे अनुभवों को अभिव्यक्ति मिलती है। उनके शिक्षाप्रद नीति दोहे प्रत्येक मन को अध्यात्मरस में डुबकी लगवाने में सक्षम हैं। मानवता के रिसते घावों पर उन्होंने गीतों के माध्यम से मलहम लगाने का प्रयत्न किया है। व्यक्ति संघर्षों और दुखों से आक्रांत भले हो जाए, पर उसके मन में अनैतिकता और भौतिकता के प्रति आस्था न जमे—उनके साहित्य की हर पंक्ति में यही प्रेरणा-स्वर सुनाई पड़ते हैं। उन्होंने जनता के सम्मुख एक मर्मस्पर्शी नया तथ्य प्रस्तुत किया कि यदि कोई व्यक्ति

धार्मिक होकर भी नैतिक नहीं है तो वह 'बेईमान धार्मिक' है। नैतिकताविहीन धार्मिकों पर आश्चर्य व क्षोभ व्यक्त करते हुए वे कहते हैं—

धार्मिक है पर नहीं कि नैतिक बहुत बड़ा विस्मय है,
नैतिकता से शून्य धर्म का यह कैसा अभिनय है।
इस उलझन का धर्मक्रांति ही है कमनीय किनारा।।

कवि-गुरु तुलसी भारतीय जनता को उच्च स्वर में संबोधित करते हुए कहते हैं कि अपनी शुद्ध नीति ही सदा सुखद भविष्य का निमित्त बनती है। अतः उसे भूलकर चित्त को विभ्रांत करने की आवश्यकता नहीं है—

अपनी शुद्ध नीति फलदाई, यह सच्चा सिद्धांत है।
उसे भूलकर चित्त तुम्हारा आज बना विभ्रांत है।

पं. विद्यानिवास मिश्र के अनुसार धर्म सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मानव-मूल्य है। इसके अभाव में जीवन की सारी संगति नष्टप्रायः है। धर्म का अर्थ जीने के तौर-तरीके में एक ऐसा सामंजस्य है जो गति तो बनाए रखता है पर विशृंखलता नहीं आने देता। आचार्यश्री तुलसी का भी स्पष्ट मंतव्य था कि धर्म और अध्यात्म को केवल कुछ व्यक्तियों तक सीमित नहीं किया जा सकता। वर्ण, जाति, संप्रदाय आदि सभी संकीर्ण घेरों से उनका धर्म मुक्त था। धर्म की जो परिभाषाएं एवं व्याख्याएं उनके काव्य में सहज रूप से अभिव्यक्त हो गईं, वे धर्म-क्रांति की संवाहिकाएं हैं। उन्होंने स्पष्ट उद्घोषणा करते हुए कहा कि साधना और धर्म का पथ भय, प्रलोभन और चाटुकारिता से परे है—

जातिवाद से, अर्थवाद से, व्यर्थवाद से दूर,
बलात्कारिता चाटुकारिता नहीं उसे मंजूर,
धर्म हृदय परिवर्तन है फिर क्या निर्धन धनवान।।

अभिधा शक्ति में धर्म का माहात्म्य कवि के शब्दों में—

इस जीवन में भी धर्म बिना। किसने ली सुख की सांस गिना।।

आचार्यश्री तुलसी का धर्म हृदय का धर्म है, मस्तिष्क का नहीं। धर्म की उनकी व्याख्या बौद्धिक कसौटी पर खरी उतरते हुए भी हृदय को वेधती है। उन्होंने विश्व के सामने धर्मक्रांति के सूत्र प्रस्तुत कर नास्तिक और बौद्धिक जनता को भी धर्म की ओर आकृष्ट किया। धन के द्वारा धर्म करने वालों का उन्होंने कड़े शब्दों में विरोध किया। वे कहते थे—'मेरा यह निश्चित अभिमत है कि कोई भी व्यक्ति धन के बल पर कभी भी मोक्ष और स्वर्ग नहीं पा सकता। यदि ऐसा ही होता तो धनी व्यक्ति मोक्ष और स्वर्ग पा गए होते और करोड़ों निर्धनों और हम जैसे अकिंचनों के लिए मुक्ति के द्वार हमेशा के लिए बंद हो जाते।' धन से धर्म स्वीकार करने वालों के समक्ष 'अधेली' (आधा आना) शब्द का प्रयोग कर कवि ने एक नूतन चमत्कार की सृष्टि की है—

धार्मिक बणणे में लगे न एक अधेली।

शोषण या गलत तरीके से धन कमाकर दान-पुण्य करने वालों पर उन्होंने करारा व्यंग्य किया है—

शोषण से धन कमाया, दीनों का खून चूसा,
कैसे हो पाप-मुक्ति, अब तुच्छ दान द्वारा।

व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास हेतु इस वैज्ञानिक युग में वे विज्ञान के साथ अध्यात्म की युति की बात कहते हैं—

वैज्ञानिक युग में जीने का बस उसको अधिकार मिला।
जिसको जीवन के विकास का आध्यात्मिक आधार मिला।

धर्म और अध्यात्म संबंधी सबसे अधिक मौलिक बात उन्होंने यह कही कि युगधारा में नया मोड़ लाने के लिए धर्म और अध्यात्म—दोनों को एक-दूसरे का पूरक बनना होगा। उनकी दृष्टि में धर्म और विज्ञान यदि अकेले हैं तो अधूरे हैं, अतः दोनों का योग आवश्यक है।

आचार्यश्री तुलसी धर्म के उसी विचार को उच्च एवं उपयोगी मानते थे जो हमारे आचरण में उतरे। धर्मशास्त्र में लिखे आदर्श यदि आचरण में नहीं हैं तो कवि की दृष्टि में वह केवल तोता-रटंत है। महावीरप्रसाद द्विवेदी का यह वक्तव्य भी इसी बात की पुष्टि करता है—'चिंतन वही उच्च है, जो लोकमंगल विधायक हो और ऐसा चिंतन जब तक आचरण में मूर्त न हो जाए, तब तक उसकी चरितार्थता ही क्या है।' और व्यवहार के बीच पड़ी खाई को मिटाने के लिए उनकी काव्यमई सशक्त आवाज मन को झंकृत करने वाली है—

- **मंदिर में जा भक्त बने, प्रह्लाद भक्त से भी बढ़कर,**
  हिरणाकुश-से क्रूर कर्मकारी बन जाते घर आकर,
  तो होगा यह प्रभु से धोखा, केवल मन बहलाते हो।।

- **कीर्तन सत्संगत में मीरां, सूर तुल्य रस लेते हो,**
  पर आचरणों में तो शूर्पणखा का परिचय देते हो,
  सत्संगत में जो पाते, क्या वहीं छोड़कर आते हो?

आचार्यश्री तुलसी ने धर्मांधता और रूढ़ियों पर करारी चोट की। उनके अनुसार धर्म के साथ रूढ़िवादिता धर्म को निस्तेज बना देती है। वे कहते हैं—

इस वैज्ञानिक युग में, ऐसे धर्म न टिक पाएंगे।
केवल रूढ़िवाद पर जो चलते रहना चाहेंगे।।

कवि की दृष्टि में इस वैज्ञानिक युग में जब तक सत्यशोध के द्वारा 'अतींद्रिय-ज्ञान' उत्पन्न नहीं होगा, तब

तक पुस्तकीय ज्ञान भारभूत बना रहेगा। अभियान के रूप में सत्यशोध द्वारा 'अतींद्रिय-चेतना' जगाने की तड़प कवि के शब्दों में पठनीय है—

सत्य शोध की खुले दिशाएं, वह अभियान जरूरी है।
ज्ञान अतींद्रिय जगे न तब तक, सारी बात अधूरी है।।

आचार्यश्री तुलसी ने अणुव्रत के माध्यम से सशक्त धर्मक्रांति की। उनका धर्म मंदिर में पूजा-पाठ करने और क्रियाकांडमय उपासना करने तक ही सीमित नहीं था। उन्होंने कहा—'चरित्र की उच्चता ही धर्म का सबसे बड़ा प्रमाणपत्र हो सकता है।' उनकी दृष्टि में संत की महत्ता सर्वोपरि है। लेकिन धर्म और भगवान के नाम पर पाखंड करने वाले साधुओं को उन्होंने नहीं बख्शा। साधु-वेश में भोली-भाली जनता को ठगने वाले संतों की उन्होंने कसकर खबर ली। काव्य के माध्यम से उन्होंने प्रतिबोध दिया कि सही साधु की पहचान करना आवश्यक है। अन्यथा वेशधारी साधु भोली-भाली जनता को ठगते रहते हैं। अनेक उपमाओं से धर्म की आड़ में दिग्भ्रमित करने वाले पाखंडी साधुओं की करतूत बताते हुए कवि तुलसी कहते हैं—

मीनों को आकर्षित करने कांटा है यह आमिष-लिप्त,
और लुभाने भोले शलभों को यह दीप-शिखा है दीप्त,
अज्ञानी हरिणों का जीवन हरने यह साधन संगीत,
फुसलाने जग की जड़ जनता को यह मुनि का वेश पुनीत
बिल्ली की हज, बक-भक्ति देख है स्वाभाविक विस्मित होना
भीखण ने कहा—हाथियों का यह भार गधों पर है ढोना।

पाखंडी और तथाकथित संतों के कारण त्यागी और सच्चे साधु भी बदनाम हो जाते हैं। इसी बात की प्रस्तुति निम्न पंक्तियों में द्रष्टव्य है—

दंभी पाखंडी मुनियों से यह साधु नाम बदनाम हुआ,
उनकी काली करतूतों का हा! कितना दुष्परिणाम हुआ,
उनके कारण सच्चे त्यागी संतों पर भी लगता लांछन,
निर्दोष सदोषी कहलाते, मोठों में पीसे जाते घुन।

आचार्यश्री तुलसी ने 'नगदधर्म' की प्रतिष्ठा की। उनके अनुसार यह नहीं हो सकता कि व्यक्ति धर्म आज करे और उसका फल भविष्य में मिले। स्वामी रामतीर्थ के अनुसार जिस धर्म का प्रत्यक्ष फल हमें इस जन्म में न मिले, वह 'उधारधर्म' है। अज्ञात स्वर्ग के सुखों की आशा में इस लोक के कर्तव्यों को भुला बैठना बुद्धिमानी नहीं। वह उधार-धर्म की बात है। वे भारतीय जनता का आह्वान करते हैं—

करनी होगी सत्य अहिंसा की ही पुनः प्रतिष्ठा,
तेजस्वी जो धर्म उसी में होती सबकी निष्ठा।

इतिहास और कला की दृष्टि से वे मूर्ति की उपयोगिता स्वीकार करते थे, लेकिन मूर्तिपूजा के विरोधी थे। उन्होंने मूर्तिपूजा पर सीधा प्रहार नहीं किया, लेकिन व्यंजना शैली में अपने आराध्य महावीर के सामने ही निम्न पंक्तियों में कुछ तीखे प्रश्न उपस्थित कर दिए—

सुण्यो निरंजन निराकार तुम, निर्मल निरुपम रूप हो,
क्यूं अंजन मंजन चंदन घृत, दीप सुगंधित धूप हो,
मिलै क्यूं नहीं देखो साहिब! लेखो अगलो-लारलो।।
वीतराग सब बंधन विरहित, अलख अलौकिक वेश में,
तो क्यूं बंद किंवाड़ां बीच, विराजो सीमित देश में,
आठूं पोर खड़्या क्यूं दरवाजे पर पहरेदार लो।।

आचार्यश्री तुलसी ने किसी धर्म विशेष या संप्रदाय विशेष की कभी आलोचना नहीं की। धर्म-क्षेत्र में जो विकृति या अराजकता प्रविष्ट हो गई थी, उसका उन्होंने खुले शब्दों में सार्वजनिक रूप से विरोध किया। आचार्यश्री तुलसी कहते थे—'धर्म वही कामयाब है, जिससे जीवन उन्नत बने। भजन, कीर्तन, सत्संग, स्वाध्याय, ध्यान सभी उपयोगी हैं, पर जब इनके सहारे धोखे का व्यापार चलता है तो मैं उनको बेकार मानता हूं। उनके एक गीत की निम्न पंक्तियां इसी तथ्य को उजागर करती हैं—

सामायिक स्वाध्याय, संतदर्शन तो धर्मस्थानों में,
जालसाजियां धोखेबाजी करते बैठ दूकानों में,
दर्शन-सेवा शास्त्र-श्रवण का क्या यह लाभ उठाते हो?

धर्मस्थान में धार्मिक बनना और दूकान पर बैठकर लोगों को धोखा देने वाले धार्मिकों को उन्होंने स्पष्ट कहा कि धर्म चद्दर नहीं, जिसे जब चाहा ओढ़ लिया जाए और मन आए तब उतार दिया जाए। धर्म जीवन के साथ जुड़ा हुआ तत्त्व है। सैद्धांतिक उपमा द्वारा इसी तथ्य को प्रकट करती उनकी पंक्तियां—

पुद्गल में ज्यों वर्ण, गंध, रस त्यों जीवन में धर्म,
ऊपर से ओढ़ी चद्दर ज्यों नहीं यही है मर्म।

आचार्यश्री तुलसी शांति और अहिंसा के पुजारी थे। जब वे आचार्य पद पर आसीन हुए तब सांप्रदायिक कट्टरता उत्कर्ष पर थी। उन्होंने अणुव्रत के माध्यम से सांप्रदायिक संघर्ष और धार्मिक कट्टरता को दूर कर समन्वय का वातावरण निर्मित करने का प्रयत्न किया। वे कहते थे कि संप्रदाय विशेष में सत्य बंदी नहीं हो सकता। धर्म तो आकाश की भांति विशाल और व्यापक है। धर्म के नाम पर

मानव-मानव को बांटा नहीं जा सकता—

शाश्वत मूल्य धर्म का जो वह कैसे घट सकता है?
धर्म नाम पर मानव-मानव कभी न बंट सकता है।।

धर्म तो प्रेम और विश्वबंधुता का संदेश देता है। कवि तथाकथित धार्मिकों के समक्ष एक ज्वलंत प्रश्न उपस्थित करते हुए कहते हैं—

विश्वबंधुता समता सहअस्तित्व धर्म ने गाया।
फिर किसने उसमें संकीर्णवृत्ति का विष फैलाया।।

आचार्यश्री तुलसी ने एक संप्रदाय-विशेष की आस्था स्वीकार करके भी सांप्रदायिक सद्भाव के लिए अपने विचारों की खिड़कियों को सदा खुला रखा। आत्मशुद्धि के लिए संप्रदाय-विशेष का मोह करने वाले धर्म के ठेकेदारों को प्रेरणा देते हुए कवि कहते हैं—

आत्मशुद्धि का जहां प्रश्न है, संप्रदाय का मोह न हो।
चाह न यश की और किसी से भी कोई विद्रोह न हो।।

आचार्यश्री तुलसी की स्पष्ट उद्घोषणा थी कि धर्म और संप्रदाय—दोनों भिन्न तत्त्व हैं। वे कहते थे—'धर्म फल का रस है और संप्रदाय उसकी सुरक्षा हेतु छिलका। इसी प्रकार उपासना आदि क्रियाएं धर्म तक पहुंचने के लिए सीढ़ी हैं, उन्हें ही मंजिल न माना जाए।

रस रस है, छिलका छिलका है, अंतर सीढ़ी मंजिल का है।
उपासना और सहज धर्म में यही भेद है अंत।।

कवि न तो ऐसी अंधश्रद्धा को स्वीकार करते हैं, जहां तर्क का स्थान ही न हो, न ही केवल तर्क को स्वीकार करते हैं जो भक्ति और श्रद्धा को व्यर्थ मानता हो। उन्होंने अपने काव्य में बुद्धि और हृदय का समन्वय किया। तार्किक युग में भी श्रद्धा का महत्त्व स्थापित करते हुए यह उद्घोष—

तार्किक युग में भी श्रद्धा का स्थान सदा है ऊंचा।
केवल तर्कवाद से पीड़ित है संसार समूचा।।
जहां विचलित हुई श्रद्धा वहां निश्चित ही पतन।

गीतिकाव्य के इन स्वरों में आचार्यश्री तुलसी का रोम-रोम अभिव्यक्त है, वे कहते हैं—

नर जीवन धोळी चादर है,
चिंहु गति में इणरो आदर है,
इण पर मत लागणद्यो दागो।।

यदि मानव मानवीय गुणों का लोप कर दानवता की ओर बढ़ता है, तो उसके आगे प्रश्नचिह्न लगाते हुए कवि का कहना है—

मानव बोलो मानवता के पथ पर कहां तक चलते हो?
मानवीय आदर्शों के अनुरूप कहां तक ढलते हो?

मानव जीवन की क्षणभंगुरता शाश्वत सत्य है। जीवन और जगत के प्रति उनका दृष्टिकोण बहुत स्पष्ट था। संसार के वास्तविक स्वरूप का चित्रण उनके गेय गीतों में हुआ है। संसार की नश्वरता का बोध उन्होंने अनेक उपमानों से कई रूपों में किया है—

फूल खिलें जो डाली पर, आखिर कुम्हलावै रे।
पानी रा बुद्बुदा, देर कित्तीक टिकावै रे।।
दिनूगै रवि ऊगै, आथण आथम ज्यावै रे।
मिलै रात रा तारा, प्रातः पतो न पावै रे।।

बाप के समक्ष बेटा चला जाए या गुरु के सामने शिष्य चला जाए, यह संसार की विचित्रता है। आचार्य आषाढ़भूति की इसी व्यथा को कवि ने कितनी मार्मिक अभिव्यक्ति दी है—

जिसका जन्म मृत्यु भी उसकी, यह तो हमने जाना था।
उलट-पुलट का खेल खिलेगा, यह किसने पहचाना था।

जीवन की अमरता और शरीर की नश्वरता का प्रतिपादन सीधी-सरल भाषा में पठनीय है—

आत्मा अजर अमर अविनश्वर, क्षणभंगुर यह काया नश्वर।।

कवि का कहना है कि धन, वैभव सब बिजली की भांति क्षणिक हैं। यह मानव का अज्ञान है कि वह उन्हें शाश्वत मान बैठा है। संसार में आसक्त मानव की स्थिति का वर्णन कवि की अलंकृत भाषा में पठनीय है—

जकड़ा यौवन धन बंधन में,
अकड़ा अभिमान निबंधन में,
भौतिक धुन में नास्तिकपन में
भीषण घमसान मचाया है।

संसार के स्वार्थ-भरे संबंधों का चित्रण करने में कवि का कौशल इस तरह मुखर हुआ है—

मनमोहक स्त्री परिजन न्याती।
स्वारथ में है सारा साथी।।

जन्म-मरण के दुख का वर्णन राजस्थानी भाषा में कितना कारुणिक और सटीक बन पड़ा है—

किती बार तू मर्‌यो गर्भ में, जननी नै संहार।
काट-काटकर बारै काढ्यो, हा दुख हृदय विदार।।

कहा जा सकता है कि आचार्यश्री तुलसी ने काव्य के माध्यम से धर्मक्रांति की जो गंगा बहाई, वह साहित्य के क्षेत्र में अपना विशिष्ट स्थान रखती है। कबीर की भांति उन्होंने स्पष्ट शब्दों में धार्मिक अंध रूढ़ियों पर करारी चोट की और धर्म के खालिस रूप को आम जन के समक्ष प्रस्तुत किया। ❖

यद्यपि मनुष्य सुख के लिए ही अर्थ का उपार्जन करता है, किंतु उसके साथ अनेक दुख जुड़े हुए हैं। अर्थ कोरा सुखोत्पादक नहीं, दुखोत्पादक भी है। अर्थ से आसक्ति पैदा होती है और आसक्ति से दुख—यह एक ऐसा दुश्चक्र है जिससे भरत चक्रवर्ती जैसे विरल पुरुष ही बच पाते हैं। दुख का मूल आसक्ति है और आसक्ति का मूल अर्थ—इसलिए भगवान महावीर ने मानव-जाति को आत्मोदय के लिए इच्छापरिमाण और पदार्थपरिमाण का पथ-दर्शन किया। यह एक अनुभूत सत्य है कि अपरिमित अर्थ के अर्जन में दुख है और ऐसे अर्जित धन के रक्षण में भी। इस सत्य का जीवन में बार-बार अनुभव किया जा सकता है।

❑❑

अर्थ में ओझल विवेक

❑

● मुनि मदनकुमार

❑❑

एक बुढ़िया ने अपने इकलौते पुत्र को अपने गहने बेचकर डाक्टर बनाया। संयोग से उसकी शादी भी एक महिला डाक्टर से हो गई और दोनों सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करने लगे। छह माह बीते-न-बीते कि डाक्टर पत्नी ने अपने डाक्टर पति से स्पष्ट कह दिया कि न तो अब इस गांव में रहना है और न इस बुढ़िया के साथ। आखिरशः दोनों ही शहर में जाकर बस गए। एक आधुनिक क्लीनिक खोल लिया और प्रचुरता से अर्थार्जन होने लगा। बुढ़िया को तो वे सर्वथा भूल ही गए। बुढ़िया ने जो कष्ट उठाए और उपकार किया, उनका स्मरण अब कौन करता? वह गांव में अकेली ही रह रही थी और बीमार भी हो गई थी। गांव में उपचार किया गया, पर पूरी तरह स्वस्थ नहीं हुई। लोगों ने बुढ़िया को समझाया कि जब तुम्हारा बेटा डाक्टर है, उसका अच्छा 'क्लीनिक' है, तब तुम शहर में जाकर इलाज क्यों नहीं करवा लेती? उसे यह सुझाव आखिरकार मानना पड़ा। शहर में जाकर उसने अपने पुत्र से इलाज करवाया। उपचार के बाद वह स्वस्थ हो गई और पुनः गांव में लौट आई।

कुछ दिन बाद (डा.) पुत्रवधू के हाथ का लिखा हुआ पत्र मिला। लिखा था—'आप हमारे 'क्लीनिक' में रही, उसका प्रतिदिन का सौ रुपए के हिसाब से किराया तथा पच्चीस सौ रुपए ओषधियों के शीघ्र ही भेजने की व्यवस्था करें। डाक्टर की फीस नहीं मांग रहे हैं।'

बुढ़िया ने पत्र पढ़ा तो उसका 'मातृत्व' रो पड़ा। वह क्षोभ और आवेश से भर गई। सही सोच रखने के लिए पुत्रवधू को शिक्षा देने की मन में आई। भारी मन से पत्र लिखा—'बहुरानी! तुम्हारे पति को मैंने नौ महीने दस दिन पेट में रखा, सौ रुपए प्रतिदिन के हिसाब से उसका अठाईस हजार रुपए, उसे पाल-पोसकर बड़ा किया—उसके दो लाख रुपए तथा उसे उच्च शिक्षा दिलवाई—उसके डेढ़ लाख रुपए बकाया हैं। इस बकाया राशि में से तुम्हारा चिकित्सा खर्च कम कर के शेष सारी राशि एकमुश्त भेजने की व्यवस्था करो।' बुढ़िया का पत्र पढ़ते ही बहुरानी को एहसास हुआ कि उसने क्या कर डाला। उसे यथार्थ का बोध हो गया।

आज की भोगवादी समाज व्यवस्था में मनुष्य का चिंतन अर्थपरक हो गया है। जीवन के हर आयाम को वह अर्थ की तुला पर तोलने का अभ्यस्त बन रहा है। जीवन में संबंध गौण हो रहे हैं और अर्थ की प्रधानता बढ़ती जा रही है। ऐसा होने से सद्भाव, स्नेह और सौजन्य की सरिताएं सूख रही हैं। दैनंदिन व्यंवहार में समता के स्थान पर विषमता को प्रतिष्ठा मिल रही है। इस अर्थवादी दृष्टिकोण के कारण मानसिक तनाव की विभीषिका झेलने के लिए मनुष्य विवश है। भय और चिंता की कारा तथा त्रासदी को अर्थानुबंध ने असीम बना दिया है, जिससे मनुष्य असाध्य रोग के चक्रव्यूह में फंसकर पीड़ा और व्यथा को भोग रहा है। सचाई यह है कि अग्नि कभी तृप्त होती नहीं तथा धन कभी भी तृप्ति देता नहीं, फिर धनार्जन और धन-संचय के लिए स्वास्थ्य को गौण करना कौन-सी बुद्धिमत्ता है? क्या पदार्थ का अंबार लोभाग्नि को शांत कर पाएगा?

आवश्यकता-पूर्ति के अतिरिक्त सारा अर्जित और संचित धन व्यर्थ है।

आवश्यकता और इच्छा के बीच असीम अंतराल है। जीवन की न्यूनतम आवश्यकताएं स्वल्प प्रयत्न से ही परिपूर्ण की जा सकती हैं किंतु मनुष्य मन की छलांग के आधार पर जीता है। इसलिए उसे कहीं पर भी विराम दिखाई नहीं देता तथा संतोष का अनुभव नहीं होता। पदार्थ के अंबार से मनुष्य को सुख के विपुल साधन उपलब्ध हो सकते हैं, किंतु सुख नहीं। उत्तराध्ययन सूत्र का निर्देश है कि यदि समूचा जगत मनुष्य को मिल जाए अथवा समूचा धन मनुष्य के अधीन हो जाए तो भी वह इच्छा-पूर्ति के लिए पर्याप्त नहीं है तथा वह त्राण देने में समर्थ नहीं है। इस सत्य को जान लेने पर भी मनुष्य अपने संपूर्ण जीवन को अर्थार्जन में खपा देता है, यह विडंबना है। अर्थपरक दृष्टिकोण के कारण जीवन में शांति और स्वास्थ्य—दोनों दुर्लभ बन रहे हैं। जीवन में अर्थ की उपयोगिता निर्विवाद है, किंतु उसकी अपनी एक सीमा होनी चाहिए। धन सुख का साधन भी बन सकता है और संताप का कारण भी। सीमित धन सुखकर हो सकता है तो असीमित धन दुखकर भी हो सकता है। जिन लोगों के पास धन की प्रचुरता होती है, उन लोगों की प्राकृतिक भूख और नींद में न्यूनता आ जाती है। तनाव और चिंता उनके जीवन के अभिन्न अंग बन जाते हैं। अर्थशास्त्र का नियम है कि किसी भी वस्तु की प्रारंभ में उपयोगिता बढ़ती है तथा एक सीमा के बाद उसकी उपयोगिता घटने लगती है। जैसे गर्मी के मौसम में प्यास बुझाने के लिए पानी की एक गिलास का ही मुख्य मूल्य है। दूसरी गिलास भी तृप्तिदाई हो सकती है, किंतु तीसरी और चौथी गिलास पानी पीने पर प्रथम दो गिलास जैसी उपयोगिता का अनुभव शायद नहीं होगा। यही बात अर्थ के विषय में जाननी चाहिए। अर्थ आवश्यकता-पूर्ति का साधन है, इच्छा-पूर्ति का नहीं। अर्थ जीवन के सम्यक् निर्वाह का साधन है, साध्य नहीं। भगवान महावीर का अपरिग्रह सिद्धांत संपूर्ण जीवनशैली को स्वस्थ और संतुलित बनाने का अमोघ मंत्र है। जैसे जीवन में कामनाओं की पूर्ति के लिए अर्थ जरूरी है, वैसे ही मोक्ष की आराधना के लिए धर्म जरूरी है। अर्थ और धर्म के बीच संतुलन बिठाने में अपरिग्रह सिद्धांत की उपयोगिता निर्विवाद है। वर्तमान युग में अर्थ की ओर अधिक आकर्षण होने के कारण जीवन में चरित्र, संयम, नैतिकता और सदाचार में कमी आई है। स्वस्थ समाज-संरचना की महत्त्वपूर्ण बाधा है यही। आवश्यकताओं का अल्पीकरण, व्यक्तिगत उपभोग का परिसीमन और शुद्ध साधनों से अर्थार्जन होने पर ही जीवन में धर्म और अर्थ के बीच संतुलन स्थापित किया जा सकता है।

मनुष्य-जीवन की एक आवश्यकता पदार्थ है। वह जीवन-निर्वाह का अनन्यतम साधन भी माना जा सकता है। पदार्थ को भला कैसे छोड़ा जाए? यह एक जटिल प्रश्न है। महान दार्शनिक आचार्यश्री महाप्रज्ञजी इसकी चर्चा करते हुए अपने संबोधि ग्रंथ में लिखते हैं—धर्म और विवेक की चेतना के विकास से इस समस्या से निजात पाई जा सकती है। नियंत्रित कामनाएं व्यक्ति को सुख देती हैं, वहीं अनियंत्रित कामनाएं दुख। लोभ दुख का हेतु है और संतोष सुख का। संतोष का मनोभाव सहज नहीं है, वह धर्माराधना से ही संभव है। धन स्वल्प होने पर भी, संतोष की स्थिति में व्यक्ति इंद्र सदृश सुख का अनुभव कर लेता है और असंतोष की स्थिति में स्वयं इंद्र और चक्रवर्ती को भी सुख उपलब्ध नहीं होता है। जीवन के इस महान सत्य को कवि ने प्रभावी ढंग से प्रस्तुत किया है—

संतोषवता निर्धनिन, इंद्रस्य सुखमनुभूयते।
असंतोषवतः सौख्यं, न शक्रस्य न चक्रिणः।।

यही बात आचार्यश्री महाप्रज्ञजी इन शब्दों में कहते हैं—अपरिग्रह परम धर्म है। अपरिग्रह के स्वीकरण से ही अहिंसाधर्म की आराधना की जा सकती है। अपरिग्रह के अभाव में अहिंसा के धरातल पर पद-न्यास नहीं किया जा सकता। मनुष्य परिग्रह के लिए ही हिंसा करता है। परिग्रह हो और हिंसा न हो, यह कतई संभव नहीं है। जब तक जीवन में परिग्रह रहेगा, हिंसा अवश्यंभावी है। जीवन में हिंसा को निःशेष करने के लिए परिग्रह को निःशेष करना जरूरी है। परिग्रह दोषागार है। परिग्रह के दोषों की चर्चा करते हुए प्राकृत-साहित्य में एक गाथा आती है—

मोहाययणं मयकामवद्धणो जणिय चित्तसंतावो।
आरंभकलहहेऊ दुक्खाण परिग्गहो मूलं।।

परिग्रह मोह के आयतन, अहंकार और काम-वासना को बढ़ाने वाला, चित्त में संताप पैदा करने वाला, हिंसा और कलह का हेतु तथा दुखों का मूल है।

यद्यपि मनुष्य सुख के लिए ही अर्थ का उपार्जन करता है, किंतु उसके साथ अनेक दुख जुड़े हुए हैं। अर्थ कोरा सुखोत्पादक नहीं, दुखोत्पादक भी है। अर्थ से आसक्ति पैदा होती है और आसक्ति से दुख—यह एक ऐसा दुश्चक्र है जिससे भरत चक्रवर्ती जैसे विरल पुरुष ही बच पाते हैं। दुख का मूल आसक्ति है और आसक्ति का

मूल अर्थ—इसलिए भगवान महावीर ने मानव-जाति को आत्मोदय के लिए इच्छापरिमाण और पदार्थपरिमाण का पथ-दर्शन किया। यह एक अनुभूत सत्य है कि अपरिमित अर्थ के अर्जन में दुख है और ऐसे अर्जित धन के रक्षण में भी। इस सत्य का जीवन में बार-बार अनुभव किया जा सकता है। इसलिए संस्कृत-कवि ने अर्थोपासना को धिक् कहकर उसकी उपादेयता पर प्रश्न-चिह्न लगाया है।

अर्थानाम् अर्जने दुःखं, अर्जितानाम् च रक्षणे।
आए दुःखं व्यये दुःखं, धिगर्थं दुःखभाजनम्।।

जीवन में अपरिग्रह क्यों जरूरी है? इस प्रश्न का उत्तर भगवान महावीर की वाणी में खोजा जा सकता है। मनुष्य-जाति यदि संग्रह की व्यर्थता और अपरिग्रह के महत्त्व को समझ ले तो दुनिया में अपराध, आतंक, अन्याय और अनैतिकता की परिस्थितियों को जड़-मूल से मिटाया जा सकता है। जीवन में अपरिग्रह के महत्त्व को रेखांकित करने वाले ये पाँच सूत्र हैं जिनके अनुशीलन से मानव-मन की बद्धमूल धारणाओं में परिवर्तन लाया जा सकता है—

1. जीवन स्वल्प है। वह साधा नहीं जा सकता, फिर इतने छोटे-से जीवन के लिए इतना संग्रह क्यों किया जाए?

2. अशुद्ध साधनों से, पापकारी प्रवृत्तियों से धन का उपार्जन या संग्रह न केवल दुख का, बल्कि दुर्गति का हेतु है।

3. कृत कर्मों से प्राणी छेदा जाता है—दंडित होता है। किए हुए कर्मों को भोगे बिना छुटकारा नहीं मिलता।

4. व्यक्ति परिवार के लिए कर्म करता है, किंतु कर्मों के फलभोग के समय पारिवारिक जन उसका हिस्सा नहीं बंटाते। उसको अकेले ही फल भोगना पड़ता है।

5. धन त्राण नहीं दे सकता। बुढ़ापे और मौत से बचा नहीं सकता।

इन तथ्यों पर विमर्श किया जाए तो संग्रह की व्यर्थता स्वतः सिद्ध हो जाती है। ये पांच चिंतनबिंदु अपरिग्रह की अमिट प्रेरणा हैं। प्रश्न है कि क्या गृहस्थ में रहते हुए कोई व्यक्ति अपरिग्रही बन सकता है? एक ओर गृहस्थ जीवन के दायित्व हैं और दूसरी ओर अपरिग्रह का महान सिद्धांत। इन दोनों में समन्वय और सामंजस्य कैसे किया जाए, यह एक गंभीर प्रश्न है। यदि कोई गृहस्थ अपने जीवन में परिग्रह की व्यावहारिक सीमा करे तो इस स्थिति में वह अपरिग्रही बन सकता है तथा परिग्रह का अल्पीकरण हो सकता है। अपरिग्रह की दिशा में प्रस्थान करने का यह श्रेष्ठ मार्ग है। अपरिग्रह न केवल जीवन की समस्याओं का समाधान है, बल्कि महानता के अर्जन का विलक्षण प्रयोग भी है। हम जीवन के यथार्थ को स्वीकार करें, नाहक कल्पना के स्तर पर न जीएं—यही अपरिग्रह की कुंजी है। ❖

प्रकाश और स्वास्थ्य

जो धन का संग्रह करते हैं, उसका त्याग नहीं करते, वे प्रकाश की उपेक्षा कर धुएं को अपने भीतर संचित कर रहे हैं।

जो सत्ता का संग्रह करते हैं, उसका त्याग नहीं करते, वे स्वास्थ्य की उपेक्षा कर दूषित वायु को अपने भीतर संचित कर रहे हैं।

जीवन का सूत्र है—लो, काम में लो और त्याग दो। जो इस सूत्र से परिचित हैं, उनके जीवन में प्रकाश है, सुख है और स्वास्थ्य है।

जो केवल लेना जानते हैं, देना नहीं जानते, भोग करना जानते हैं, किंतु त्याग करना नहीं जानते, उन्हें न प्रकाश प्राप्त है और न स्वास्थ्य।

भोग से शौर्य का दीप बुझता है और त्याग से वह प्रज्वलित होता है। भोग से जीवन का फूल मुरझा जाता है और त्याग से खिलता है।

—मुनि नथमल (आचार्यश्री महाप्रज्ञ)

वह सिकुड़ी अंगुलियों से अपने बालों को छूता, जिनकी जड़ों में एक नई नमी मालूम होती—एक अनजानी चिकनाहट। तभी आंगन की बंड़ेर से अपनी मायूस आवाज में पंडुक बोल पड़ता। सन्नाटे की छाती पर कील ठोकती-सी बाजार से आटे की चक्की की आवाज हथौड़े की चोट की तरह ठक्-ठक्-ठक्-ठक्! वह निराश होकर कंबल में मुंह छिपा लेता। खैर, उसे मरने में भी संतोष है। उसके अपने सभी हैं, पर सचमुच अपना कोई भी नहीं। मां है, जो रामू और उसकी बहू और होने वाले बच्चों की खुशी में जिंदगी बिता लेगी। रामू भी अब अकेला नहीं है। इन्हें खुश करने के लिए मुझसे जितना हो सका, कर दिया, सचमुच में मेरा अपना कोई नहीं है, यह भी अच्छा ही है, मेरे न होने पर पता नहीं बेचारी का क्या होता....वह यह सब सोचकर एक क्षण के लिए अजीब तरह का अनुभव करता....एक ऐसा क्षण जिसमें उसे दुख न था, असंतोष न था, एक पीड़ा अलबत्ता थी अपने अकेलेपन पर, अपने हृदय के उपेक्षित उस प्यार पर जिसे वह किसी को न दे सका।

❑❑

कर्ज

❑

शिवप्रसाद सिंह

❑❑

हवा तेज थी और बूंदाबांदी की वजह से काली मिट्टी गीली होकर चक्कों में लौंदे बांधने लगी थी। दूर पर आकाश में बादल का एक टुकड़ा बेतरह फैलकर डरावने हाथी की तरह चिंघाड़ने लगा था। सूरज डूबने में कोई घड़ी-भर की देर थी। जगपती अपने बैलों को बुरी तरह पीट रहा था जो नथुने फुलाए, मुंह से गाज उगलते, बोरों से भरी हुई गाड़ी को खींचने के लिए सारी देह को सिकोड़कर गठरी बने जा रहे थे। अभी थोड़ी देर में सूरज डूब जाएगा, तो अंधेरे में धनखरों की लीक से बाजार जाने में बड़ी मुश्किल होगी। जगपती गाड़ी के मोढ़े से कूदकर नीचे उतरा और बैलों के गले की नाथियों को और कड़ा करने लगा, पुट्ठे ठोंके, पुचकारा और उचककर आहिस्ते से जुए पर बैठकर टिटकार लगाई। बैलों ने उमाच मारी, गिट्टी पर पैर पड़ा और एक बैल घुटने के बल गिरकर पीड़ा के मारे बां-बां चिल्लाने लगा, जैसे कसाई उसके गले पर गड़ासा चला रहा हो।

'जग्गू चाचा!' ताल के करार से एक मोटी आवाज हुई, 'काहे को गूंगे जानवर की जान ले रहे हो! आदमी हो कि कसाई हो! तीस-तीस बोरे, बाप रे! आज तक किसी को 'करइल' में तीस बोरे लादे नहीं देखा।'

जगपती बैठे हुए बैल की नाथी पकड़कर उठा रहा था। उसने घूरकर ताल के करार पर लाखी को देखा और बोला—'अरे हां रे हां, कसाई तो हूं ही, जरा पीछे आके हाथ लगा तो। अपने बाप को क्यों नहीं समझाता....दो मुट्ठी के हाड़ पर पचीस लादता है।' लाखी छवरे से कूदकर नीचे आया और बैलों के पास आकर बोला—'इतनी रसद खिलाते हो, राम कसम, सब अकारथ है। हाथी जैसे बैल और तीस ठो बोरियां नहीं खींच सकते। राम-राम!' 'खबरदार, आज मंगर है, तीन कुंड की बालू झोंक दूंगा तेरी आंख में, जो तूने मेरे बैलों को कुछ कहा तो, हां।' जगपती ने बैलों को पुचकारा और उछलकर जुए पर बैठ रहा। बैलों की पगही संभाली, लाखी ने पीछे से जोर लगाया।

'बेटा, बाबू हां आं-आं रे-हां आं-आं'—बैलों ने फुफकारा और एक झटके से गाड़ी काली मिट्टी की छाती चीरती, लीक पर हाथ-भर गहरी गड़ारी खींचती निकल गई।

जगपती और रामपती दोनों भाई हैं, जुड़वें। दोनों जनमे तो दादा मरा, कुछ बड़े हुए तो बाप को खा गए। मां बची एक, जो एक का पेट भरने-भर अनाज कमाने में सुबह से शाम तक जांगर पीटती रहती। इसका-उसका काम-धाम करके जो थोड़ा-बहुत मिलता उसे अधिक-से-अधिक अपने

पेट में कस लेने के लिए दोनों लड़ते। रामपती कमजोर था, थोड़ा हिरकासा पिनपिना। मां की कमाई में बराबर का हिस्सा न मिलने पर रामपती चट कटोरे के पास लोट पड़ता और नक्की सुर में अलापना शुरू करता।

'ए पेंपा चुप कर....' देवला काकी उसके आंसू और धूल-चुपड़े गाल पर एक चांटा लगाकर चिल्लाती—'अरे करम निखट्टू, रोने से कहीं वह भीम मानेगा। जीना है तो छीन के खा।' जगपती के सामने से कटोरा खींचती हुई वे आंखें तरेरकर बिफर पड़तीं—'हाथ-पैर काट के खा जा उसका। अकेले रहेगा तो नांद जैसा पेट भरने में आसानी होगी।' जगपती कुछ न बोलता। भरमुंह कौर ठूंसकर इस तरह भोलेपन से आंखें नचाता जैसे सत्तू-घोला पानी पीने के लिए बछड़े को कोई सिटकारी मारता है कि और पी, और। पर आज तो दोनों भाइयों को देखकर किसी को यकीन न आएगा कि इनकी परवरिश में मां ने अपना दूध नहीं, खून पिलाया था। खेतों की बयार, पताल-फोड़ कुएं के मीठे पानी और देहतोड़ मेहनत में पलकर उनकी जवानी निखरी थी, बीमारी-तीमारी ने कभी छुपकर भी उनके सहज पानीदार बदन पर धुंधला केंचुल नहीं डाला। रामपती शुरू से ही कमजोर था, इसलिए वह जग्गू से लहुरा ही लगता। दोनों को सहसा सामने देख कोई नहीं कह सकता था कि जुड़वें हैं ये। बाप केवल दो बीघे खेत छोड़कर मरा था, वह भी गिरो था। जगपती ने बोरे लादकर अपने बूते जमीन छुड़ाई। रामपती खेती करता और जग्गू बोरे की ढुलाई। खासे खाते-पीते थे उन दिनों, पर देवला काकी के चेहरे की उदासी कभी टलने का नाम न लेती क्योंकि काफी उमर चढ़ जाने पर भी जग्गू को अपनी लड़की सौंपने की हिम्मत किसी गृहस्थ ने न की। और जब जग्गू ही कुंवारा था तो रामपती की शादी की बात ही कैसे उठती। उन दिनों बनारस से पिछली गाड़ी रात नव बजे आती थी। गांव आते-आते काफी अंधेरा हो जाता। माघ के दिनों में तो और भी दिक्कत होती क्योंकि चैती फसलों से भरे खेतों के बीच के रास्ते ओस से सन जाते और जबकि कुहरे की दीवालें एक में गुंथकर आंखों की राह बांध देतीं तो चलना और भी मुश्किल हो जाता। जगपती बनारस गया है, इसकी खबर रामू को न थी, न देवला काकी को। दस बजे जब उसने दालान की सांकल खटखटाई तो रामू ने झट से कूदकर दरवाजा खोला क्योंकि मां-बेटे दोनों के कान द्वार पर ही लगे थे।

'कहां चले गए थे?' मां ने पूछा।

'बनारस गया था।' जग्गू ने यों कहा था, जैसे खेतों की सैर करने गया हो। फिर कोई नहीं बोला था, एक विचित्र सन्नाटा छाया रहा।

कमर से गमछे का फेटा खोलकर जग्गू ने नोटों का पुलिंदा रख दिया था मां के सामने।

'पूरे एक हजार हैं।'

मां एकटक देखती रह गई। गम और खुशी से गला रुंध गया था। कुछ न बोल सकी वह।

'तो तुमने खेत बेंच ही दिए'—रामू हकलाकर बोला।

'हां!'

'एक हजार रुपये में खरीदकर औरत आएगी और.... हम तीन की जगे चार जन इकट्ठे बैठकर फाके करेंगे....हमने तुमसे साफ कहा था न....'

'इसमें साफ-दाफ की क्या बात है, खेत मैंने अपने हिस्से का बेचा है केवल एक बीघे, पांच सौ रुपये कर्ज ले लिया है....साह से....मैं ही चुकाऊंगा उसे भी, तू कौन होता है मेरे बीच में बोलने वाला....'

रामू कुछ कहने को हुआ, पर चुप हो गया। मोटे आंसू की एक लर उसकी कनपटी तक रेंग गई। वह चुपचाप उठकर आंगन में चला गया। मां चुपचाप रसोई में चली गई थी। जग्गू चारपाई पर बैठा कमरे की दीवालों की ओर देखता रहा। पुरानी, जर्जर दीवालों से घिरा हुआ घर जैसे सिमटकर उसके बदन को छू रहा था, एक विचित्र प्यार और ममत्व-भरा स्पर्श। काली दीवालों की दरारों से रसोईघर के दीये की रोशनी छन-छनकर आती तो ऐसी लगती जैसे जुगनुओं की मालाएं झूल रही हों। कुहरे में लिपटी चांदनी दालान की चौकठ पर लाजवंती बहू की तरह ठिठक गई थी। जग्गू के मन की खुशी आज अपने में समा न पाती थी। रामू तो निरा घोंघा है, हर बात में बचपना करता है, पर मां को क्या हो गया है आज! क्या करे बेचारी! पूरी जिंदगी तो दुख को भेटे गुजार दी उसने। एकाएक सुख मिला तो सहा न गया। वह मुस्कराते हुए उठा और रसोई के दरवाजे पर जाकर बोला—'अभी से बहू के बारे में सोचने में डूब जाओगी या खायक भी दोगी अम्मा।'

'पीढ़ा लेके बैठ जा। ठंडा हो गया था, गरम कर रही हूं।' मां बोली। पर जाने क्यों उनकी बातों में वैसा उल्लास न था जैसा जग्गू चाहता था।

'तो तुम्हें भी खुशी नहीं है, है न?' रोटी तोड़ते हुए पूछा उसने—'पर मैं कहता हूं अम्मा, ऐसा मौका फिर हाथ न आता। जन रहेंगे तो जमीन भी होगी। पुरुखों का नामलेवा और पानी देवा ही न रहेगा तो धन-दौलत लेकर क्या चाहेंगे? बंस-बरखा के लिए तो जाने क्या-क्या करते हैं लोग। सच कहो अम्मा, दूसरों के घर शादी के बधावे बजने

पर तुम्हारी आंखों में आंसू नहीं आ जाते थे? क्या तुमने हर व्रत-त्यौहार पर बहू के लिए देवी-देवता के चरणों में माथा नहीं पटका है, बहू वाली माओं को देखकर क्या तुम आंखें नहीं चुराती रही हो, मंगल-उछाह के समय क्या बिन ब्याहे बेटों की मां होकर दूसरों के घर जाने में तुम अपने को हेठ नहीं मानती थीं....फिर–फिर आज जब मैंने यह सब-कुछ जुटा दिया तो....तो तुम खुश क्यों नहीं हो अम्मा?'

'मैं तो बहुत खुश हूं बेटे....बहुत खुश हूं....' अम्मा हिचककर रो उठीं।

'तू औघड़ ही रह गया....भोलेनाथ, तू नहीं जानता कि इससे क्या होगा....तू अपने ही हाथों....'

'मैं खूब जानता हूं अम्मा....और मैंने जो किया है जानकर किया है। मैं जानता हूं कि मेरी शादी कभी न होगी। होने की कुछ आशा भी होती तो रामू के इस ब्याह के बाद वह भी खतम हो जाएगी, पर अम्मा मैं नहीं चाहता कि तू बिना किसी बेटे का ब्याह देखे हमसे बिछुड़ जाए....मैं तो अब बूढ़ा हो चला, भला कोई मुझे अपनी लड़की क्यों देने लगा, पर लड़की का बाप रामू को ब्याहने को तैयार है, तो क्या मैं उसके रास्ते में रोड़ा बन जाऊं....और फिर अम्मा....खून की बढ़ंती खून ही देखता है, फल तो वृक्ष का ही होता है न, चाहे किसी डाल में फले।'

फागुन बीत चुका था। आमों में बौर और महुओं में फूल आ चुके थे। रामपती की शादी हो गई। बूढ़ी देवला काकी का घर मंगल गीतों से नहा गया। द्वार पर चावल के पानी से छुई दीवालों पर गेरू के कोहवर रंग गए। लंबी सूंड वाले हाथियों पर पीले झूल लटके। पीठ पर शहनाई वाले तासे और बीन लेकर बैठ गए। स्वस्तिक के चिह्न भी बने और कोहवर पर नजर न लग जाए इसलिए हाथियों की तस्वीरों के नीचे-ऊपर काजल के डिठौने भी जड़ दिए गए। हजार रुपये में बहू आ गई। काली दीवालों के भाग जग गए थे। सफेद मिट्टी से पुत-संवरकर वे सुंदर लगने लगी थीं, घर गुलजार लगता था।

जेठ खतम होते-होते चैती फसल का अनाज किसानों के घरों में आ जाता है, शादी-ब्याह की धूम मच जाती है। बनियों के हाथ गल्ला बिकने लगता है। बोरे-बंद अनाजों को आढ़तों तक पहुंचाने के लिए गाड़ीवानों की पुकार मचती है। रेल के डिब्बों के न मिलने से बहुतेरे व्यापारी खरीदा गल्ला दूर के बाजारों में भी भेजने लगते हैं। जगपती कभी मुगलसराय या बबुरी के बाजारों में नहीं जाता था, आस-पास के गांवों से बोरे लादकर कस्बे की आढ़त तक पहुंचा देना आसान था। वैसे पैसे कम मिलते थे। इस बार उसने दूर की ढुलाई भी मंजूर की।

सिरकी की झाब डाले गाड़ियां बोरे लादकर कस्बे से चलती हैं तो एक अजीब दृश्य खड़ा हो जाता है। सफेद छाजनों से ढंकी हुई, नई दुल्हन की तरह घूंघट काढ़े, बैलों की घंटियों की पायल बजाती, बत्तख की तरह मस्तानी चाल से झूमती गाड़ियों का चलना अजीब लगता है। जेठ-असाढ़ी बादलों की फुहारों में कान फड़फड़ाते, जुगाली करते हुए बैल अपनी चाल से चलते जाते हैं और गाड़ीवान सिरकी में देह छिपाए बिरहे की ताल पर बादलों को ललकार उठते हैं। जगपती पहली बार दूर की ढुलाई पर जा रहा था, उसके मन में बड़ी खुशी और उत्साह था।

'जग्गू चाचा', लाखी पिछली गाड़ी से बोला, 'अरे एकाध उड़ने दो, बड़े मस्ताने बादल उनये हैं।'

जग्गू का दिल तो उमंग पर था ही, कानों पर हाथ रखकर उसने बादलों को देखा और पूरे गले से गा पड़ा :

अमवा के डारी में मोजरि फुलेले
गुलरी फुलेले हड़फोर
गोरिया के छतिया जोबनवां फुलेला
कि फाटेला करेजवा रे मोर

'वाह, वाह, भले रे भले!' लाखी चिल्लाया।

'चाचा की जवानी लौट आई है।' एक रेखिया उठान छोकरा धीरे-से फुसफुसाया।

'घर में बहू जो आ गई है!' एक बूढ़ा गाड़ीवान आंखें मुलमुलाकर बोला। जगपती के होठों में बिरहे की उमंग सिमटकर रह गई। उसने दांतों से होठ दबा लिए। नहीं, अब वह पहले की तरह गा नहीं सकता, मजाक भी नहीं कर सकता। प्रेम के तराने उसके लिए वर्ज्य हैं क्योंकि वह कुंवारा जगपती नहीं है, एक बहू वाले परिवार का मुखिया है। छोटे भाई की मर्यादा का रक्षक है। जगपती ने बैलों के पुट्ठों को सहलाया और बरखा के पानी को हाथों से काछकर गमछे से पोंछने लगा। आकाश में बादलों की घुमड़ और गहरी होती जा रही थी। पेड़ों के पत्ते तक सांस रोके दिशाओं का सिमटना देख रहे थे।

जगपती की घुटन को जैसे लाखी भांप गया था। वह अब सन्न बैठा रहा, फिर टूटे हुए बिरहे की तान उठाने की उसने जिद न की। जगपती चाचा तो बेलाग मजाक करते थे, नए-नए छोकरों तक को चुप करा देना उनके बाएं हाथ का खेल था, पर जाने क्यों इतनी-सी बात पर वे चुप्पी साध गए। एक विचित्र सन्नाटा गाड़ियों के काफिले को घेरकर बैठ गया। केवल सड़क के दो बाजू दरख्तों के पत्तों से टपकती

हुई बूंदों की 'धप्-धप्', बैलों की घंटियों की 'टुन-टुन' और गाड़ियों की चरमराती आवाज के सिवा वहां और कोई बात न उठती थी।

ढुलाई के पैसे मिले, तो जगपती को याद आया कि घर पहुंचने पर बहू के हाथों पहली बार थाली मिलेगी। 'थरिया छेकायी' मांगने पर कुछ-न-कुछ देना तो पड़ेगा ही, नहीं तो बड़ा हेठी का काम होगा। तीस रुपये की मजूरी थी कुल। उसने पूरे दाम के पछुवे खरीद लिए मुगलसराय के बाजार में। यद्यपि वह जानता था कि ये रुपये महंगे.हैं, कुल एक बीघे खेत से चार जनों के पेट न भरेंगे। उसे पहले से ज्यादा मेहनत करनी होगी, पर उहूं, यह सब तो होता ही रहता है। बहू कहीं यह न सोचे कि किसी गरीब के घर आ गई हूं, जो बहू-बेटी को रखना भी नहीं जानते। अपने पुराने गमछे में, जो बोरे उठाने पर सिर की गद्दी के या कभी थके बैलों के पैर रगड़ने के अलावा किसी दूसरे काम न आया था, उसने चांदी के पतले-पतले पछुवों को बड़ी सावधानी से लपेटा तो उसके होठों पर खुशी और संतोष की एक कपूरी हंसी छा गई। ऐसी हंसी तो उसके जीवन में केवल एक ही बार आई थी जब उसने ढुलाई के पैसे बटोरकर बाप की गिरो जमीन छुड़ाई थी।

करीब एक साल बीत गया। बरसाती दिनों को छोड़कर किसी दिन जग्गू की गाड़ी के पहिये रुके नहीं। गांव में वह कभी-कभी ही दिखता। हाथ में सट्टी लिए, किसी बनिये की दूकान पर गुड़ खरीदते या तेली के यहां खली लाते या कभी थोड़ी फुरसत हुई तो चिलम की दो फूंक मारते दिख गया, नहीं तो हमेशा वह गाड़ी पर सवार। उतरता था तो अपने और बैलों को रातिब और राहत देने-भर को ताकि अगले दिन गाड़ी समय पर और ठीक से चल सके। बिना सिपाये के कंधा लगाकर पहियों को उतार लेना, धुरे में कजरी लगाकर चक्का चढ़ा देना उसके लिए लड़कों का खेल था।

शाम हो गई थी। सूरज की आखिरी रोशनी भी पेड़ों की फुनगी, बसवारों की चोटियों से सहमे पक्षी की तरह उड़ चली। लाखी की मदद से कीचड़ में फंसी गाड़ी को निकालकर जब जगपती बाजार की ओर चला तो बूंदें तेज हो गई थीं। कीचड़ में गिरा बैल अभी भी हांफ रहा था। इस तरह तो आधी रात तक भी शायद ही बाजार पहुंच सके और बूंदों से कहीं अनाज खराब हुआ तो दो बातें ऊपर से सुननी पड़ेंगी। सनसनाती पछुवा की सर्द हवा शरीर को तीर की तरह बेध रही थी। जाड़े की बारिश, बैलों तक के रोयें भभर आए थे पर जग्गू था कि उन्हें अपने सुर में हांके जा रहा था। जब गाड़ी चल पड़ी तो पहिये पीछे तो नहीं ढुलक सकते।

बड़ी रात गए वह घर लौटा। खा-पीकर लेटा तो दर्द के मारे बदन की हड्डियां गुरचने लगीं। देह तवे की तरह जल रही थी। नाक से मिर्चे की तरह तीता पानी बह रहा था। सुबह तक वह बिल्कुल निढ़ाल हो गया। खांसी की रफ्तार रुकती ही न थी। कड़वे तेल की मालिश की, कंबल में बदन लपेटकर धूप में बैठा, पर कोई राहत न मिली। बुखार और तेज हो गया। वह दर्द के मारे बिस्तरे पर छटपटाता रहा। देवला काकी पैताने बैठी उसके तलवे सहलातीं, पर कुछ बोल नहीं पातीं। जानकर दुख बेसाहने वाले को मां कहे भी तो क्या?

दवा-दारू होती रही पर जग्गू का अंतरिया बुखार बीच में दो-दो रोज की फुर्सत देकर लगातार आता रहा। उसका पत्थर जैसा शरीर चारपाई में सिमटा लगता। रामू बगल में माची पर बैठा भुनभुनाता—'बार-बार कहा कि खेत मत बेचो, तो बंश देखने चले थे....तुम मत बोलो, तुम मत बोलो....नहीं बोलता मैं, भोगो, भोगो खूब भोगो....' और पीड़ा के मारे उसकी आंखें डबडबा जातीं तो वह चुपचाप उठकर बैलों की चरनी पर जा बैठता। दिन बीतते गए, गांव की नीमों में नए टुसे आ गए। पकी फसलों की गंध से सिवान गहगहाने लगा, पीपल की लाल कोंपलें गोदा खाने वाले पक्षियों को न्यौता देने लगीं, महुवे बीनने के लिए लड़कियों का झुंड अमराइयों का चक्कर लगाने लगा। जग्गू अपनी दालान में चारपाई पर लेटा टुकुर-टुकुर सब-कुछ देखता रहता। अनाज तैयार होते ही गाड़ियां लदेंगी। बैलों की घंटियों की टुन-टुन की बिसरी हुई आवाज उसके कानों में गूंजती तो उसे ऐसा लगता जैसे उसकी रगों में ईख का गरम रस बह रहा है। वह सिकुड़ी अंगुलियों से अपने बालों को छूता जिनकी जड़ों में एक नई नमी मालूम होती—एक अनजानी चिकनाहट। तभी आंगन की बंड़ेर से अपनी मायूस आवाज में पंडुक बोल पड़ता। सन्नाटे की छाती पर कील ठोकती-सी बाजार से आटे की चक्की की आवाज हथौड़े की चोट की तरह ठक्-ठक्-ठक्-ठक्! वह निराश होकर कंबल में मुंह छिपा लेता। खैर, उसे मरने में भी संतोष है। उसके अपने सभी हैं, पर सचमुच अपना कोई भी नहीं। मां है, जो रामू और उसकी बहू और होने वाले बच्चों की खुशी में जिंदगी बिता लेगी। रामू भी अब अकेला नहीं है। इन्हें खुश करने के लिए मुझसे जितना हो सका, कर दिया, सचमुच में मेरा अपना कोई नहीं है, यह भी अच्छा ही है, मेरे न होने पर पता नहीं बेचारी का क्या होता....वह यह सब सोचकर एक क्षण के लिए अजीब तरह का अनुभव करता....एक ऐसा क्षण जिसमें उसे दुख न था, असंतोष न था, एक पीड़ा

अलबत्ता थी अपने अकेलेपन पर, अपने हृदय के उपेक्षित उस प्यार पर जिसे वह किसी को न दे सका।

गांव में, दिन-भर थके-हारे लोग खेत-खलिहान से लौटकर आते, तो हुक्के की गुड़गुड़ाहट के साथ दबे हुए स्वर में कहते–'हालत बिगड़ती ही जा रही है।' यदि ऐसी जमात के पास अनजाने कभी रामू या देवला काकी पहुंच जातीं तो हुक्के का गुड़गुड़ाना तक बंद हो जाता। इस सन्नाटे का मतलब दोनों भांपते थे पर किससे क्या कहें! जब अपना दैव ही बाएं है तो दूसरों का मुंह कौन रोके!

ऐसे ही समय में एक दिन देवला काकी के परिवार में एक नया प्राणी उतर आया, बच्चे की पहली किलकारियां घर के रोएं-रोएं में गूंज उठीं। महरी ने दौड़कर थाली बजाई तो देवला काकी ने उसके हाथ से छीनकर रख दी। महरी ठिठक गई। पड़ोसिनों को मंगल गाने के लिए न्योतना भी वह पूछ न सकी। डरी-दुबकी दालान में जग्गू की चारपाई को कगराती जाने लगी तो एक कांपती आवाज ने टोका–'क्या है रे, क्या हुआ है?'

'लड़का हुआ है, भाईजी!' महरी धीरे-से बोली।

'लड़का!' जग्गू ने उठने की कोशिश की पर उठ न सका–'अम्मा को बुलाना जरा।'

महरी उसके चेहरे को देखकर एकदम बदहवास घर में दौड़ पड़ी, अम्मा आई तो जग्गू उबल उठा–'तुम औरत हो कि पत्थर हो....अम्मा, तुमने थाली भी नहीं बजने दी। तुम सोचती हो मैं मर जाऊंगा, तुम सब अमंगल करके मुझे आज ही मार डालोगी–जाओ, जाओ। थाली बजने दो, नगाड़े वाली को बुला लो, अम्मा, बधावे में तनिक कोर-कसर न हो। सबको बुला लाओ। सोहर मैं भी सुनूंगा। हां....' वह हांफने लगा था।

'अच्छा बेटे....तू लेट जा, मैं सब करती हूं, सब, थाली भी बजेगी, नगाड़ा भी....' अम्मा ने चादर खींचकर मुंह तक उढ़ा दिया और आंसू पोंछती आंगन में चली गईं।

बरही बीती तो अम्मा ने हाथ-भर के बच्चे को कपड़े में लपेटकर जग्गू की गोद में रख दिया। कंबल लगने से या जाने क्यों बच्चा रो पड़ा तो जग्गू उसे चुपवाने लगा, 'चुप कर, चुप कर ए बंद कर पेंपा....अम्मा, यह भी रामू की तरह ही पिनपिना होगा' और वह हो-होकर हंस पड़ा। उसके बीमार चेहरे की झुर्रियां पूरे विस्तार में खिंचकर मिट गईं। एक नई जीवनेच्छा से उसका सारा शरीर गरमा उठा।

'भग्गू कितना भागवान है' भैहू सास से कहती–'मेरा मुन्ना कितना लच्छनदार है....आते ही भाईजी का रोग मिट गया। ए है....च् च् च्....तुम्हें बाबूजी मुगलसराय से दुपलिया कुलही लाएंगे, तार के गोट वाली हां....ए....ए.... ए....ए....न न न न, रोना नहीं टुन्ना, सो जा मेरे मुन्ना।'

सच ही भग्गू बड़ा भागवान था। जगपती को बुखार ने छोड़ दिया। वह कमजोर तो अब भी था, पर लाठी टेककर चरनी के पास आ बैठता। खलिहान में बोझे ढोने वालियों से दिन-रात चिबौली करता। जैसे वह पहले का जग्गू था ही नहीं।

नन्हे को गोद में चिपकाए वह गांव की खोरियों में भी घूम आने लगा। बीमारी के असर उसके शरीर से धीरे-धीरे हटने लगे।

जग्गू को बहुत दिनों तक चारपाई पर बांध रखना मुश्किल था, इसे रामू भी जानता था और देवला काकी भी। दोनों के बार-बार मना करने पर भी एक दिन उसने नई गरावें बनाईं, नई गुरिए गूंथीं और घंटियों को नए सिरे से बांधा। बैलों को नहलाकर उनके सींगों को तेल से चमकाया और अपनी गाड़ी लेकर बहुत दिनों के बाद चिर-परिचित लींकों से होता हुआ बाजार गया। दूबों से दो जानू ढंके हुए छौरे के आगे पकी फसलों का अछोर विस्तार, बीच-बीच में कटे हुए खेत, कसीदे की क्यारियों जैसे लगते नीले आकाश में पक्षी तैरते तो जग्गू का मन उन्हीं के साथ चक्कर लगाने लगता।

उस दिन साह के चबूतरे पर बीस बोरे एक कतार में रखे थे। जग्गू उन्हें पीठ पर लादकर दूर खड़ी गाड़ी में रख रहा था।

'इतना मत मसक्कत करो जग्गू बेटा,' राघो चाचा ने कहा–'अभी बदन कमजोर है भैया, बीमारी से उठे हो....'

'बीमारी-तिमारी तो लगी ही रहती है चाचा,' उसने मुस्कराते हुए कहा, 'बैठे निठल्ले रहा भी तो नहीं जाता।'

'कर्जा भी तो भारी लाद रक्खा है,' राघो चाचा ने मुरव्वत का पर्दा फाड़कर कहा, 'न करो तो पटे कहां से?'

'कर्जे की भी एक ही कही चाचा', जग्गू की आंखों में जरा भी हिचक न थी। 'पुरखों का कर्जा मर गया तो महाजन के कर्जे में क्या रक्खा है।' उसने चबूतरे के नीचे खड़े होकर, भरे बोरे की चोटियां पकड़कर खींचा और एक झटके से ढाई मन के बोरे को पीठ पर रोपकर सीधा करने लगा। भार से उसका शरीर दुहरा हो गया था। पैरों की नसें तन गई थीं। अंगुलियां जमीन में धंस रही थीं और उजले नाखून उस धुले बीज की तरह लगते थे जो जमीन की पर्तों को चीरकर जड़ों को रस देते रहते हैं ताकि वे उसे पेड़ के हर हिस्से में नए बीजों के आने तक पहुंचाती रहें। बीज से नए बीज का आना ही तो जीवन की सार्थकता है। ❖

भवानीप्रसाद मिश्र की कविताएं

उठालो

उठालो
आत्मा का यह फूल

जो तूफान के थपेड़े से
धूल में गिर गया है

उठालो इसे

चुनना तो
वृंत पर से हो सकता था

मगर अब वह
वृंत पर नहीं
धूल पर है

उठालो आत्मा का यह फूल
धूल पर से

धूल को
वृंत की तरह
दुख भी नहीं होगा

और चुने जाने का दर्द
नहीं होगा फूल को

उठालो
आत्मा का यह फूल
जो तूफान के थपेड़े से
धूल में गिर गया है!

समकक्ष

कठिन है
अंधेरे को
आत्मा से
अलग करना

क्योंकि
दोनों की आंख
आखिर
उजाले पर है!

कोई सागर नहीं है

कोई सागर नहीं है अकेलापन
न वन है

एक मन है अकेलापन

जिसे समझा जा सकता है
आर-पार जाया जा सकता है जिसके
दिन में सौ बार

कोई सागर नहीं है
न वन है
बल्कि एक मन है
हमारा-तुम्हारा सबका अकेलापन!

अलस रस

जैसे दर्द चला जाता है
ऐसे चला गया
उत्साह का एक मौसम

और हमने आराम की सांस ली
कि अब थोड़े दिनों तक
हमारी सुबह-शामों की खबर
हम नहीं रखेंगे
दूसरे रखेंगे

हम केवल पड़े रहने का सुख
चखेंगे हौले-हल्के

दुख की तरह तीव्र
उत्साह का मौसम
चला जो गया है!

❖❖

शीलन

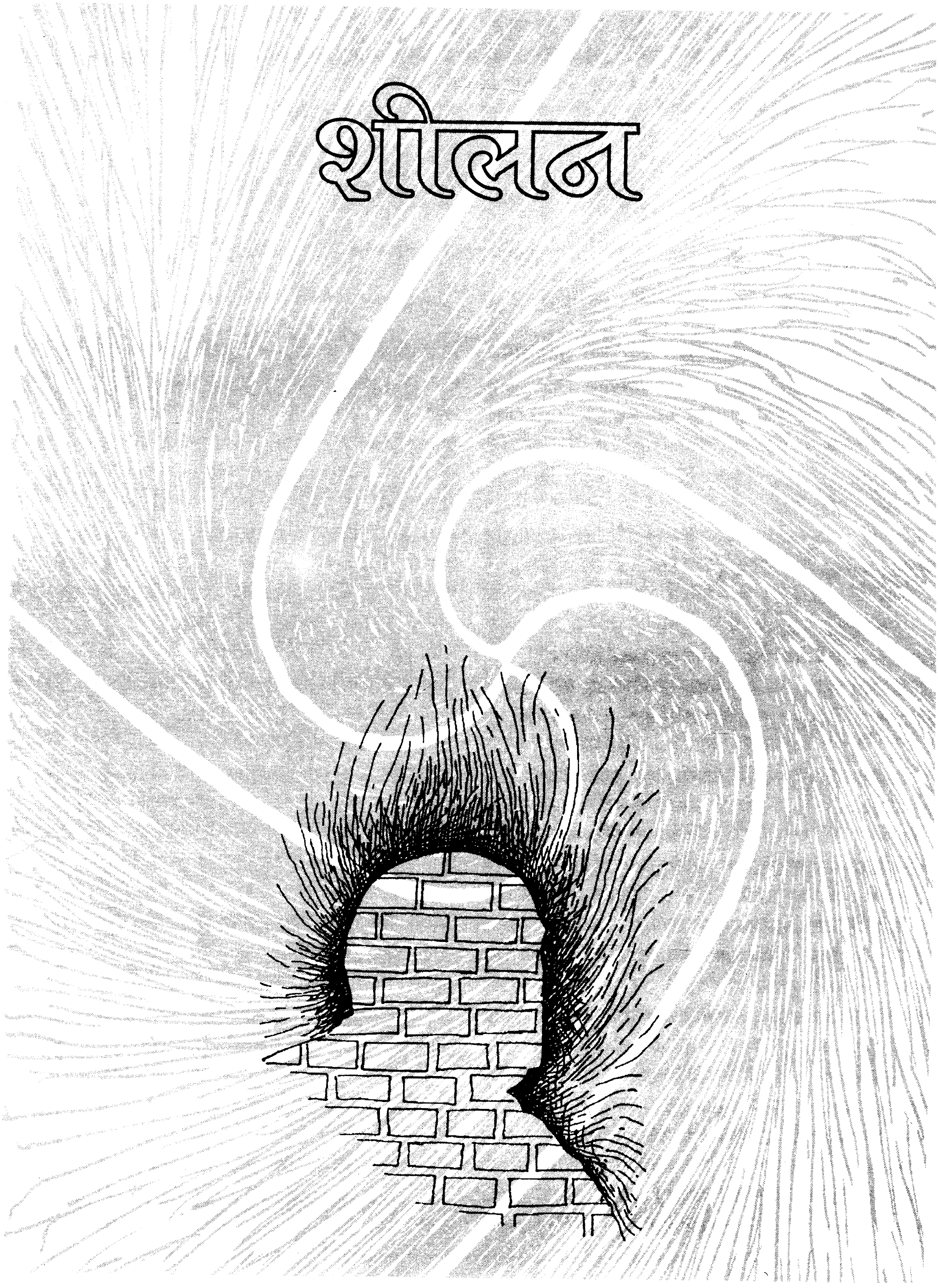

मुझे जान पड़ता है कि सामाजिक प्रार्थना में जो रस पैदा नहीं होता उसका एक कारण व्यक्तिगत प्रार्थना की आवश्यकता का अज्ञान है। सामाजिक प्रार्थना की व्यवस्था व्यक्तिगत प्रार्थना में से ही हुई है। व्यक्ति को प्रार्थना की भूख न हो तो समाज को कहां से हो सकती है? सामाजिक प्रार्थना का उपयोग भी व्यक्ति के लाभ के लिए है। व्यक्ति के आत्मदर्शन में—आत्मशुद्धि में—सामाजिक प्रार्थना सहायक होती है, इसलिए व्यक्तिगत प्रार्थना का मूल्य सबको समझ लेना चाहिए। बच्चा ज्योंही समझने लगे, माता को चाहिए कि तुरंत उसे प्रार्थना सिखा दे। सब धर्मों में यह सामान्य वस्तु है।

—गांधीजी

धर्म मनुष्य से भिन्न कुछ नहीं है। वस्तु का स्वभाव ही उसका धर्म होता है। आग का स्वभाव उष्णता प्रदान करना है। वही उसका धर्म है। आत्मा का स्वभाव ही उसका धर्म है। उसके स्वभाव के अंग हैं—तप, त्याग, सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह आदि। इन्हीं के पालन से व्यक्ति का अंतःकरण शुद्ध होता है। शरीर बर्तन है। उसमें अमृत भरोगे तो वह अमृतमय हो जाएगा। विष भरोगे तो विकृत हो जाएगा।

❑❑

धर्म की नींव : जीवन की इमारत

❑

यशपाल जैन

❑❑

एक सेठ था। उस पर कभी-कभी बड़ी अजीब-सी सनक सवार हो जाती थी। एक बार उसके दिमाग में आया कि लोग बड़े पागल हैं, जो मकान की नींव पर इतना खर्च करते हैं। वह दिखाई तो देती नहीं। जो दिखाई न दे, उस पर पैसा डालना व्यर्थ है। मैं बिना नींव का मकान बनाकर दिखाऊंगा। इस विचार के आते ही उसने कारीगर बुलाया और उसे अपना विचार बताकर बिना नींव का मकान बनाने को कहा। कारीगर ने कहा, 'सेठजी, बिना नींव का मकान खड़ा किस पर और कैसे होगा?' सेठ को खीज हो आई। वह बोला, 'मकान धरती पर खड़ा होगा और जरूर खड़ा होगा। तुम उसकी तैयारी करो।'

सेठ का आग्रह देखकर कारीगर ने ईंटें, सीमेंट आदि सामान जुटाया, मकान बनाना आरंभ किया। दीवार खड़ी की। थोड़ी देर में हवा का झोंका आया, दीवार गिर गई। सेठ ने यह देखा तो झुंझलाकर कहा, 'तुम लोगों को बेईमानी की आदत पड़ी हुई है। सामान कभी अच्छा नहीं लगाते।' सेठ ने स्वयं जाकर सीमेंट खरीदवाया। फिर काम शुरू हुआ। दीवार थोड़ी ऊपर तक गई तो सेठ ने कहा, 'देखो, मैं जो कहता था, ठीक था।' दीवार थोड़ी और ऊपर तक गई कि हवा के झोंके से फिर धराशाई हो गई। पर सेठ ने अपना हठ नहीं छोड़ा। बार-बार कोशिश होती रही, बार-बार नाकामयाब होते रहे। तब सेठ ने समझा कि बिना नींव के मकान बन नहीं सकता। नींव ही मकान को धारण करती है।

यही बात मानव-जीवन के साथ है। उसकी नींव है धर्म। बिना धर्म के जो जीवन की इमारत खड़ी करते हैं, उनकी इमारत या तो बनती ही नहीं, या किसी प्रकार बन भी गई तो हवा का जरा-सा धक्का लगने पर नीचे आ गिरती है। धर्म नींव की भांति मानव-जीवन का अधिष्ठान होता है। वस्तुतः जिसका जीवन धर्म की आधारशिला पर निर्मित होता है, उसे गिरने का कभी कोई खतरा नहीं होता। यही कारण है कि प्राचीन काल से अब तक धर्म का निरंतर विरुद गाया गया है।

किंतु वर्तमान युग में धर्म का वास्तविक रूप भुला दिया गया है। कर्मकांड को ही धर्म समझ लिया गया है। घर में या देवालय में पूजा-पाठ किया, माला फेरी, कुछ देर ध्यान किया और मान लिया कि धर्म का पालन हो गया। पूजा-पाठ का महत्त्व है, लेकिन वही धर्म नहीं है। धर्म के दो रूप होते हैं। एक आंतरिक रूप होता है, दूसरा बाह्य रूप होता है। हम देवालय में जाते हैं। अपने इष्टदेव की मूर्ति के सामने खड़े होते हैं। जो मूर्ति के दर्शन मात्र से संतुष्ट हो जाते हैं, वे वास्तव में, धर्म के मर्म से वंचित रहते हैं। लेकिन जो मूर्ति में अपने इष्टदेव के गुणों का दर्शन करते हैं और तदनुरूप अपने जीवन को ढालते हैं, उन्हें अत्यंत मूल्यवान संपदा प्राप्त होती है।

मानव-जीवन में कई अंग हैं, जिनमें दो अंग प्रमुख हैं। एक है शरीर और दूसरी आत्मा अथवा चेतन तत्त्व। शरीर व्यक्त है, आत्मा अव्यक्त है। हम शरीर को पोषण देते हैं। भूख लगती है तो खाना खाते हैं, लेकिन आत्मा दिखाई नहीं देती। अतः उसे भूल जाते हैं। शरीर की भांति आत्मा को भी भूख लगती है, पर हमारा ध्यान उस ओर नहीं जाता। फलस्वरूप हमारा पेट भरा रहता है, आत्मा भूखी रहती है। सच यह है कि हमारा ध्यान इस मूलभूत तथ्य की ओर नहीं जाता कि शरीर तो जड़ है। उसे चेतन बनाने वाला तत्त्व आत्मा है। जिस घड़ी आत्मा शरीर से संबंध विच्छेद कर लेती है,

प्राणी निर्जीव हो जाता है। शरीर का मूल्य तब मिट्टी के बराबर होता है। उसे अग्नि को समर्पित कर दिया जाता है।

धर्म वह है, जो हमारा साक्षात्कार आत्मा से कराता है। भोज़न आवश्यक है, क्योंकि उसके बिना शरीर टिका नहीं रह सकता, लेकिन भोजन जीवन का चरम लक्ष्य नहीं है। आखिर खाते तो पशु भी हैं। मनुष्य पशु होते हुए भी उससे भिन्न है। उसे एक दुर्लभ गुण प्राप्त है, वह है विवेक। इसी गुण से उसे सार-असार का बोध होता है। उसी से वह अनुभव कर सकता है कि संसार में सर्वश्रेष्ठ प्राणी मनुष्य है और उसके जीवन का उद्देश्य खाना-पीना तथा मौज करना नहीं है। विवेक यह भी बताता है कि मनुष्य शरीर तो नाशवान है, किंतु उसके अंदर वास करने वाली आत्मा अविनाशी है, अजर-अमर है। उसी की आराधना करना मानव का परम धर्म है।

आत्मा शुद्ध है, बुद्ध है। लेकिन अपने अविवेक से मनुष्य उस पर आवरण डाल देता है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर का मैल उस पर चढ़ाता रहता है। वह मैल आत्मा के आलोक को ढक लेता है, उसकी तेजस्विता पर पर्दा डाल देता है। इंसान भूल जाता है कि उसके पास एक अनमोल हीरा है और वह कांच के टुकड़ों के पीछे जीवनपर्यंत भटकता रहता है। सोता रहता है। अंत में जब उसकी आंखें खुलती हैं तो पाता है कि बहुत देर हो चुकी है और वह किनारे आ गया है।

धर्म वह तत्त्व है, जो हमें अहर्निश आत्मा का बोध कराता है। धर्म की साधना के लिए अंतःकरण का निर्मल होना नितांत आवश्यक है। इस संबंध में एक बोधकथा बड़ी सार्थक है। एक आदमी के अंदर ईश्वर के दर्शन करने की इच्छा पैदा होती है। वह साधुओं के पास जाता है और उनसे इच्छा-पूर्ति का अनुरोध करता है, पर इसके लिए कोई भी साधु तैयार नहीं होता। अंत में उसे एक साधु मिलता है। वह कहता है, 'कल सवेरे तुम मेरे आश्रम में आ जाना। हम लोग सामने के पहाड़ की चोटी पर चलेंगे। तुम्हारी इच्छा पूरी हो जाएगी।' अगले दिन वह आदमी वहां पहुंच जाता है। साधु एक गठरी के साथ तैयार बैठे थे। उन्होंने उस आदमी से कहा, 'चलें! यह गठरी उठाकर सिर पर रख लो।' आदमी ने गठरी उठाकर सिर पर रख ली। दोनों चल दिए। पहाड़ की चढ़ाई थोड़ी चढ़ने पर आदमी ने साधु से कहा, 'स्वामीजी, मैं तो थक गया।' साधु ने कहा, 'कोई बात नहीं है। इस गठरी में पांच पत्थर हैं। एक फेंक दो।' आदमी ने यही किया। कुछ चलने पर फिर थक गया तो साधु ने दूसरा पत्थर फिंकवा दिया। थकने पर फिर तीसरा, चौथा और पांचवां, इस तरह पांचों पत्थर फेंक कर आदमी पहाड़ की चोटी पर पहुंच गया। बोला, 'महाराज, हम लोग यहां आ गए। अब अपना वादा पूरा कीजिए।' साधु ने कहा, 'अरे अज्ञानी, तू पांच पत्थर लेकर पहाड़ पर नहीं चढ़ सका और पत्थरों से भी भारी काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि की चट्टानें अपने हृदय पर रखकर तू ईश्वर के दर्शन करना चाहता है?' कथा प्रतीकात्मक है, लेकिन उसमें बड़ी शिक्षा निहित है।

धर्म मनुष्य से भिन्न कुछ नहीं है। वस्तु का स्वभाव ही उसका धर्म होता है। आग का स्वभाव उष्णता प्रदान करना है। वही उसका धर्म है। आत्मा का स्वभाव ही उसका धर्म है। उसके स्वभाव के अंग हैं—तप, त्याग, सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह आदि। इन्हीं के पालन से व्यक्ति का अंतःकरण शुद्ध होता है। शरीर बर्तन है। उसमें अमृत भरोगे तो वह अमृतमय हो जाएगा। विष भरोगे तो विकृत हो जाएगा। संसार में मानव की कई कोटियां हैं, पर मोटे तौर पर वे सब दो कोटियों में समाई हुई हैं। एक वह कोटि है, जो अपने घर-बार, गृहस्थी तक सीमित है। उसके लिए अंग्रेजी के विख्यात कवि, वर्ड्सवर्थ ने कहा है कि हम लोग दुनिया के मोह-माया में बेहद लिप्त हैं। इस कोटि को श्रावक कहते हैं। दूसरी कोटि में आते हैं वे लोग जो 'देह' में रहते हुए भी 'विदेह' कहलाते हैं। उन्हें श्रमण कहते हैं। वे तप, साधना आदि के द्वारा अपने को तपाते हैं और कंचन बनते हैं। उनके जीवन में धर्म का स्वर मुखरित होता है। बौद्ध धर्म में धर्म के तीन मुख्य लक्षण बताए गए हैं—शील, समाधि, प्रज्ञा। जैन धर्म की रत्नत्रई है—सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र्य। जो इनकी आराधना करेगा, उसकी आत्मा परमात्मा की ओर अग्रसर होगी।

अपने जीवन में मनुष्य सुरक्षा चाहता है और उसके लिए वह नाना प्रकार के प्रयत्न करता है। उससे कितनी सुरक्षा मिलती है, यह सब जानते हैं। लेकिन स्पष्ट दिखाई देता है कि जो धर्म की रक्षा करता है, उसकी सुरक्षा धर्म करता है। आदमी का सब-कुछ छीना जा सकता है, लेकिन उसके गुणों को कोई नहीं छीन सकता। धर्म मनुष्य के गुणों का पर्याय होता है।

आज हम धर्म को भूल गए हैं। हमारी उपासना के केंद्र-बिंदु बदल गए हैं। विज्ञान और तकनीक की प्रगति ने एक नई सभ्यता को जन्म दिया है, वह सभ्यता है भौतिक मूल्यों की। इस सभ्यता ने पदार्थ को महत्त्व दिया है, मनुष्य को गौण बना दिया है। परिणाम यह हुआ है कि भौतिक सभ्यता ने नैतिक मूल्यों का हनन कर दिया है। धर्म का ह्रास भी उसी की एक प्रक्रिया है। धर्म प्रखर रहेगा तो नैतिक मूल्यों को आंच नहीं आ सकती। यदि मनुष्य को सुरक्षित रहना है तो उसे धर्म की रक्षा करनी ही होगी। ❖

इसीलिए अन्वेषक, शोधकर्ता, खोजी और मौलिक चिंतक अपने पदचिह्न अपने-आप बनाते हैं। जीवन-निर्माण की इस कठोरतम विभीषिका में वे संघर्षों की चेतना से बीहड़ अंधेरे को मुट्ठियों में दबाकर पहले तेल निकालते हैं और फिर अपनी आत्म-ज्योति से उसमें वह दीपक जलाते हैं, जो उनकी समूची आत्मा और सचाई को आलोकित करता हुआ, उनके व्यक्तित्व को उद्भासित करता है।

❑❑

ईमान का दीपक

❑

राजेन्द्र अवस्थी

❑❑

वह रात भर दीये जलाती रही।

वह रात भर तेल भरता रहा।

वे सारी रात फुलझड़ियां चलाते रहे।

बाहर रात्रि अंधकार का कफन ओढ़े निश्चिंत सोती रही। उसकी चादर में जरा भी न सरसराहट हुई और न सलवटें पड़ीं।

दूर कोई बार-बार गुरुदेव रवींद्रनाथ का गीत गा रहा था : 'सूरज की रोशनी का भार उठाए एक नन्हा-सा दीया अंधकार को भेद रहा है!'

क्या सचमुच अंधकार को भेदना इतना आसान है?

अंधेरा और प्रकाश पृथ्वी की परिक्रमा का एक क्षण है। कोई पृथ्वी की गति को रोक सका है?

परंपराओं से बातें करने के हम आदी हो गए हैं।

कान फोड़ती परंपराओं में अंधेरे को डूबते देखने का एहसास खुनखुने के साथ खेलना ही तो है!

खेलना बुरा नहीं है, उससे सिद्धियों और सफलताओं की सार्थकता को खोजना अपने को भ्रम में डालना है।

अंधेरा और प्रकाश अपने-अपने क्षणों में सार्थक हैं। एक दीया यदि अंधेरे को पी सकता तो जलता हुआ फासफोरस समूचे सूरज को अंधेरे में उतार सकता!

सब-कुछ इतना आसान नहीं है। तब? आइए, विचार किया जाए वह दीया कहां है, कौन-सा है, जो सही रोशनी देता है और अंधकार को उसी तरह खींचने की ताकत रखता है, जैसे गरम हवा सारी नमी को एक क्षण में पी जाती है।

दूर पहाड़ की चोटी पर जलता हुआ दीया पथ-प्रदर्शक नहीं है, क्योंकि उसका अस्तित्व किसी और के हाथों में है।

दूसरों के गंतव्य को अपना संबल मानकर चलने वाले उनसे बेहतर नहीं, जो दूसरों की जूठन पर पलते हैं।

फूलों की सुगंध चुराकर नकली सेंट और इत्र बनाए जा सकते हैं, उन सेंटों और इत्रों से फूल नहीं बनाए जा सकते।

राम, कृष्ण, ईसा और बुद्ध के बताए मार्ग जीवन की विभीषिकाओं में मरहम लगा सकते हैं, हमें वह स्थान नहीं दे सकते।

इसीलिए अन्वेषक, शोधकर्ता, खोजी और मौलिक चिंतक अपने पदचिह्न अपने-आप बनाते हैं। जीवन-निर्माण की इस कठोरतम विभीषिका में वे संघर्षों की चेतना से बीहड़ अंधेरे को मुट्ठियों में दबाकर पहले तेल निकालते हैं और फिर अपनी आत्म-ज्योति से उसमें वह दीपक जलाते हैं, जो उनकी समूची आत्मा और सचाई को आलोकित करता हुआ, उनके व्यक्तित्व को उद्भासित करता है।

अंधकार पर विजय पाना उतना ही कठिन है, जितना प्रकाश को पराजित करने के सपने देखना है।

वास्तव में आसपास की दुनिया हमें इतना आत्मसात कर लेती है कि हम सचाई को खोज नहीं पाते।

शेष पृष्ठ 56 पर

सभी जानते हैं कि कमजोर संकल्प वाले लोग पथ की बाधाओं से विचलित होकर लक्ष्य तक नहीं पहुंच पाते हैं, वे बीच राह में ही थक जाते हैं, और इसका दोषी ठहराते हैं भाग्य को। उनकी यह सोच अपनी कमजोरी छिपाने का एक नकाब है। भाग्य संकल्प का मालिक नहीं, सेवक है। संकल्प भाग्य का निर्माण कर सकता है, बिगड़े भाग्य को बना सकता है, रूठे भाग्य को मना सकता है और सोए भाग्य को जगा सकता है। अगर आप अपने भाग्य का निर्माण चाहते हैं, मगर सोचते हैं कि नहीं हो सकता तो निश्चित ही आप निर्माण नहीं कर सकेंगे। अगर आप सोचते हैं 'मैं हूं अपना भाग्य विधाता' तो निश्चित ही आप उसका निर्माण कर सकेंगे।

❑❑

संकल्प : प्राणवान ऊर्जा-स्रोत

❑

साध्वी शुभ्रयशा

❑❑

एक ग्रामीण शहर में आकर एक होटल में ठहरा। सोने के समय उसने सोचा दीये (बत्ती) को बुझा दूं। वह बिजली के बल्ब के पास गया। फूंक मारी, बुझा नहीं। दो मिनट बाद और तेज फूंक मारी, फिर भी दीया नहीं बुझा। हैरान होकर रोशनी में ही सो गया। प्रभात हुआ। होटल का बैरा आया। ग्रामीण ने बैरे को कहा—'अरे। तुम्हारे यहां ये कैसे दीये हैं, जो चाहे कितनी फूंक मारो, बुझते ही नहीं।' बैरा बोला—'महाशय! यह दीया नहीं, बिजली का बल्ब है। यह फूंक से नहीं, बटन दबाने से बुझता है। जब तक हम 'स्विच' को दबाना नहीं जानते तब तक न दीया (बत्ती) जलाया जा सकता है। और न बुझाया जा सकता है।'

सच ही कहा है—'अज्ञानं खलु कष्टम्' यह बात सभी पर लागू होती है। जब तक हम अपनी शक्तियों से परिचित नहीं होते तब तक उनका विकास नहीं कर सकते। शक्ति-जागरण के लिए संकल्प का 'बटन' दबाना बहुत जरूरी है, क्योंकि प्राणवान संकल्प वह सूर्य है जो जीवन को प्रकाश से भर देता है। जिस व्यक्ति के भीतर संकल्परूपी सूर्य उदित हो जाता है उसके लिए असंभव जैसा कुछ भी नहीं रहता। उसकी संकल्प-शक्ति 'कामधेनु' और 'चिंतामणि' की तरह हर इच्छा को पूर्ण करने वाली होती है। हम जानते हैं कि सिद्ध संकल्प एक जादुई पिटारा है, एक चामत्कारिक मंत्र है जो असंभव को संभव, कठिन को सरल और दुर्लभ को सुलभ बना देता है। महात्मा गांधी की दृढ़ इच्छाशक्ति का हम स्मरण करें। सन् 1930 में महात्मा गांधी ने स्वराज नहीं मिलने तक आश्रम वापस नहीं आने का संकल्प लिया था। उसे उन्होंने पूरा किया। अपनी श्रम-निष्ठा व दृढ़ता से कई लोगों ने यह सिद्ध कर दिया है कि असंभव माने जाने वाले काम भी संभव हो सकते हैं। संकल्प-शक्ति जीवंत कृत्पवृक्ष है। संकल्प का धनी व्यक्ति केवल महान काम ही नहीं करता, वह छोटे-छोटे कामों को भी महान तरीके से करता है।

एक दिन थोड़ा ऊंचा सुनने वाला चार साल का एक बच्चा अपनी जेब में अध्यापक के हाथों का लिखा एक 'नोट' लेकर घर पहुंचा। उस 'नोट' पर लिखा था—'आपका बेटा इतना बेवकूफ है कि कुछ नहीं सीख सकता। उसे स्कूल से निकाल लीजिए।' उसकी मां ने वह 'नोट' पढ़कर जवाब दिया—'मेरा बेटा बेवकूफ नहीं हो सकता, मैं उसे खुद पढ़ाऊंगी'। अध्यापक द्वारा बेवकूफ कहा जाने वाला वही लड़का मां के संकल्प के बल पर, बड़ा होकर विश्व का महान वैज्ञानिक 'थॉमस एडीसन' बना।

सफलता की शुरुआत इच्छाशक्ति से होती है। इसी शक्ति का दूसरा नाम है—'संकल्पशक्ति'। संकल्प के परिप्रेक्ष्य में कई बिंदु उभरते हैं—

1. संकल्प क्या?
2. संकल्प क्यों?
3. संकल्प के प्रकार और स्वरूप?
4. संकल्पसिद्धि की प्रक्रिया क्या?
5. निष्पत्ति क्या?

मैं कुछ होना चाहता हूं—'होउ कामेणं' की भावना से प्रेरित होकर किया गया चिंतन, विचार या एक सोच का नाम है—संकल्प। प्राणवान संकल्प ऊर्जा का एक पिंड है, एक स्रोत है जो 'गामा किरण' की तरह अनेक बाधाओं को पार कर अपने लक्ष्य तक पहुंच जाता है।

संकल्प अनेक प्रकार के हो सकते हैं। मुख्यतः इन्हें दो वर्गों में बांटा जा सकता है—

1. शुभ संकल्प, 2. अशुभ संकल्प।

जैन दर्शन की भाषा में आर्त-ध्यान और रौद्र-ध्यान से प्रभावित संकल्प अशुभ संकल्प की श्रेणी में आते हैं। धर्म-ध्यान से प्रेरित संकल्प शुभ संकल्प कहे जाते हैं। सकारात्मक संकल्प और नकारात्मक संकल्प के रूप में भी इन्हें वर्गीकृत किया जा सकता है।

संकल्प देश, काल सापेक्ष होते हैं। इसलिए परिस्थिति, परिवेश और आवश्यकता के अनुसार इनका स्वरूप बदल भी सकता है। एक ओर भोगी व्यक्ति भौतिक संसाधन प्राप्ति के लिए संकल्प करता है, वहीं दूसरी ओर रोगी, रोग निवारण के लिए संकल्प करता है। तीसरी पंक्ति में खड़ा एक योगी आध्यात्मिक उपलब्धि के लिए संकल्प करता है। इस तरह एक ही संकल्प के अनेक रूप हो जाते हैं। हम मानते हैं कि जैसे बूंद-बूंद से घट भर जाता है और घट-घट से सागर। वैसे ही छोटे-छोटे संकल्प भी बड़े-बड़े इरादों को पूरा करने में फलदाई हो सकते हैं। संकल्प छोटा हो या बड़ा, अल्पकालिक हो या दीर्घकालिक—इसका महत्त्व तभी है जब हमारे भीतर संकल्प को पूरा करने की अर्हता हो, योग्यता हो। अर्हता के अभाव में न थाली के पानी में चिड़िया तैर सकती है और न नदी के पानी में नाव।

आज अक्सर लोगों द्वारा यह कहा जाता है कि बड़े ख्वाब देखो, बड़े संकल्प करो, लक्ष्य बड़ा बनाओ। लक्ष्य बड़ा बनाना बहुत अच्छी बात है, किंतु इसके साथ हमें यह भी याद रखना चाहिए कि समर्थ पैरों के द्वारा ही हजारों किलोमीटर की दूरी तय की जा सकती है। वृथा ऊंची सोच पीड़ा भी दे सकती है। अति-महत्त्वाकांक्षा से न तो धरती पर चैन से बैठा जा सकता है और न ही आकाश में ऊंची उड़ान भरी जा सकती है। अतः श्रेयस्कर यही होता है कि अपनी निष्ठा, लगन एवं पुरुषार्थ के बल पर छोटी-छोटी मंजिलें तय कर अपने आत्म-विश्वास को इतना प्रदीप्त कर लें कि हर बड़े-से-बड़ा काम या बड़े-से-बड़ा लक्ष्य प्राप्त करने की क्षमता पैदा हो जाए और सफलता हर पल स्वयं कदम चूमे।

सभी जानते हैं कि कमजोर संकल्प वाले लोग पथ की बाधाओं से विचलित होकर लक्ष्य तक नहीं पहुंच पाते हैं, वे बीच राह में ही थक जाते हैं, और इसका दोषी ठहराते हैं भाग्य को। उनकी यह सोच अपनी कमजोरी छिपाने का एक नकाब है। भाग्य संकल्प का मालिक नहीं, सेवक है। संकल्प भाग्य का निर्माण कर सकता है, बिगड़े भाग्य को बना सकता है, रूठे भाग्य को मना सकता है और सोए भाग्य को जगा सकता है। अगर आप अपने भाग्य का निर्माण चाहते हैं, मगर सोचते हैं कि नहीं हो सकता तो निश्चित ही आप निर्माण नहीं कर सकेंगे। अगर आप सोचते हैं 'मैं हूं अपना भाग्य विधाता' तो निश्चित ही आप उसका निर्माण कर सकेंगे।

एक आदमी कार चला रहा था। साथ में बैठी पत्नी ने एकदम कहा—'रुकिए! हम लोग गलत दिशा में जा रहे हैं।' पति ने बेपरवाह उत्तर दिया, 'कोई चिंता नहीं है, हम 'बिफोर टाइम' चल रहे हैं। रफ्तार थोड़ी तेज कर अभी रास्ता तय कर लेंगे।'

केवल रफ्तार तेज है तो गाड़ी अच्छी चली—यही कहा जा सकता है, किंतु मंजिल तक पहुंचने के लिए सही दिशा का ज्ञान होना जरूरी है।

अच्छी तस्वीर लेने के लिए कैमरे को सही 'फोकस' करना पड़ता है, ठीक वैसे ही सफलता पाने के लिए सही लक्ष्य का निर्धारण करना जरूरी है। दिशाहीन, लक्ष्यहीन कार्य भंवरजाल की तरह गतिमान तो कहे जा सकते हैं, किंतु उनसे प्राप्त कुछ भी नहीं किया जा सकता। लक्ष्य का निर्धारण होने पर ही आंतरिक शक्ति प्रस्फुटित होती है। संकल्प के मनोवैज्ञानिक पहलुओं पर प्रकाश डालते हुए बताया जाता है कि संकल्प ही व्यक्ति को लक्ष्य व दिशा देने में सक्षम है। आमतौर पर अधिकांश काम बिना लक्ष्य निर्धारण के किए जाते हैं जिससे अक्सर आम-जन दिशाहीन हो भटकाव में आ जाते हैं। दिशा व लक्ष्य के अभाव में बहुत-से प्रयास या तो व्यर्थ चले जाते हैं या फिर उनमें बहुत समय व शक्ति व्यय होती है, परंतु संकल्प लेकर काम करने से लक्ष्य सामने स्पष्ट दिखाई देता है और सभी प्रयास व प्रयत्न लक्ष्य की दिशा में समायोजित होते हैं।

संकल्प के अभाव में शक्ति खंड-खंड होकर अनेक दिशाओं में प्रवाहित होने लगती है। संकल्प का प्रयोजन ही खंड-खंड शक्ति को अखंड शक्तिस्रोत में बदल देना है। वास्तव में यह अनुभव होने लगता है कि संकल्प लेने से व्यक्ति का आत्मविश्वास और आत्मशक्ति बढ़ जाती है। संकल्प यदि कठिन हो तो प्रारंभ में अवश्य कठिनाई का

सामना करना पड़ सकता है, किंतु यदि संकल्प में थोड़ी भी सफलता की सुवास आने लगे तो आत्मविश्वास चौगुना हो जाता है।

आम लोगों का यह मानना है कि हम संकल्प करते हैं, लेकिन वह बीच में ही टूट जाता है। उनका यह कथन ठीक भी है, क्योंकि वे 'शार्ट-कट' रास्ता अपनाते हैं। रातो-रात संकल्प सिद्ध करना चाहते हैं, किंतु ऐसा कभी होता नहीं। संकल्पसिद्धि की भी एक प्रक्रिया है, उससे गुजरकर ही व्यक्ति संकल्प को फलवान बना सकता है। भगवती सूत्र में इसका उल्लेख है—

'देवाणुप्पिया। बलिचंचं रायहाणिं आढाह परियाणह सुमरहं, अट्ठं बंधह, निदाणं पकरेह, ठितिपकप्पं पकरेह...'

भगवती भाष्य में इसकी सविस्तार चर्चा करते हुए लिखा है—

संकल्प का पहला सूत्र है—आदर। जिसके प्रति आदर का भाव नहीं होता, उस विषय का संकल्प सिद्ध नहीं होता।

इसका दूसरा तत्त्व है—परिज्ञा। संकल्प-विषय की धारणा। धारणा होने पर ही संकल्प की सिद्धि होती है।

इसका तीसरा सूत्र है—स्मृति। संकल्प-विषय की सतत स्मृति, संकल्प-सिद्धि के लिए आवश्यक है।

इसका चौथा सूत्र है—अर्थबंध। संकल्प के प्रयोजन के साथ तादात्म्य स्थापित करने पर ही वह सिद्ध होता है।

इसका पांचवां सूत्र है—निदान। संकल्प-विषय के प्रति तीव्र अभिलाषा संकल्पसिद्धि के लिए आवश्यक होती है।

संकल्प की प्राप्ति ही उसकी निष्पत्ति है। दृढ़ संकल्प-शक्ति के द्वारा व्यक्ति केवल भौतिक ऋद्धि-सिद्धि को ही प्राप्त नहीं करता अपितु आत्म-साक्षात्कार भी कर सकता है—

मर पूरा देस्यां आत्मा रा कारज सारस्यां
आत्मजागरण के इस संकल्प ने आचार्य भिक्षु को महान संत बनाया। गणाधिपति गुरुदेव तुलसी ने भी संकल्प के अपने उपवन में अणुव्रत, प्रेक्षाध्यान, जीवन-विज्ञान, समण दीक्षा जैसे पुष्प खिलाए और न कभी विरोध की चिंता की और न कभी प्रतिकार ही किया।

दृढ़ संकल्पित व्यक्तित्व की छत्र-छांह के तले ही तेरापंथ धर्मसंघ गौरव का अनुभव कर रहा है। आज भी संकल्पों के अनगिन दीप प्रज्वलित हैं। दीपों की ज्योति से संपूर्ण मानव-जाति आलोकित हो रही है।

संकल्प के पुरोधा-पुरुष आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने जीवन के अपने आठवें दशक में अहिंसा-यात्रा कर यह सिद्ध कर दिया है कि फौलादी संकल्प के आधार पर असंभव को भी संभव किया जा सकता है। किसने कल्पना की थी इस परिपक्व वय में ऐसी अहिंसा-यात्रा होगी—महीनों की नहीं, वर्षों की। रचनात्मक यात्रा के इस दौर में हर कोण से प्राणवान संकल्प का नाद सुनाई दे रहा है।

इस विश्व में जिसने भी महानता के शिखर पर आरोहण किया है, उसकी गति के साथ संकल्पशक्ति अविरल गतिमान रही है। महान व्यक्तियों की आत्मकथाओं एवं उनके विचारों को पढ़कर लगता है कि धुन के पक्के, कर्मठ मानव जिस दिशा में मुड़ जाते हैं—सफलता हमेशा उनका इंतजार करती है। ❖

'संस्थाओं तथा व्यक्तियों के जीवन में ऐसे अवसर आते हैं जब उनको अपने आदर्शों और उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अपनी प्रिय से प्रिय वस्तु का भी त्याग करना पड़ता है। हम संतप्त हृदय से अपना पुराना घर छोड़ रहे हैं, किंतु जो अपनी पैतृक संपत्ति है, उससे हम दस्तबरदार नहीं हो रहे हैं। यह संपत्ति भौतिक नहीं है। यह आदर्शों तथा पवित्र उद्देश्यों की संपत्ति है। इस संपत्ति का उत्तराधिकारी न केवल ज्येष्ठ पुत्र होता है और न संपत्ति का समविभाग ही होता है। धार्मिक समुदायों का पर्सनल लॉ अर्थात व्यक्तिगत विधान उस पर लागू नहीं होता। इस संपत्ति का अधिकारी वही हो सकता है जो अपने आचरण और विश्वास से अपने को उसका अधिकारी सिद्ध करे। इसमें मिथ्या गर्व नहीं है। हम अपनी सीमाओं को जानते हैं। हम अपनी कमजोरियों से भी परिचित हैं, किंतु हम यह कहना चाहते हैं कि हम इसके अधिकारी बनने का प्रयत्न करेंगे।'

—आचार्य नरेन्द्रदेव

केवल पत्थर ही एकाकी रह सकता है (Only stone : stays alone)। उसे किसी की अपेक्षा नहीं होती, लेकिन मनुष्य समाज में ही जी सकता है। मनुष्यों के बीच एक-दूसरे के प्रति अपेक्षा का संबंध सर्वत्र जुड़ा हुआ है। इसीलिए निरपेक्ष मनःस्थिति लेकर वह समुदाय को सुदृढ़ता नहीं दे सकता। सहयोग के खंभों पर ही सह-अस्तित्व संभव है। कोई भी व्यक्ति या तत्त्व कभी भी पूरी तरह अनावश्यक या निरर्थक नहीं होता। परस्पर एक-दूसरे की उपयोगिता को स्वीकारना व उसे महत्त्व देना आवश्यक है। एक-दूसरे की अपेक्षा को समझते हुए जब समायोजन का प्रयास किया जाता है तभी शांत-सहवास स्थित होता है।

❑❑

विवेक दृष्टि : जीवन की पहेली का हल

❑

● समणी सत्यप्रज्ञा

❑❑

जिंदगी में बहुत-सी अनसुलझी पहेलियां होती हैं। जीवन को बहुमुखी शीशे के जरिए देखना ही इन पहेलियों को सुलझाने का सबसे महत्त्वपूर्ण उपाय है। सापेक्षता की आंख से देखते ही हर चिंतन से समाधान की रश्मियां झिलमिलाने लगती हैं। साथ में रहना और संघर्ष करते रहना व्यक्ति की आदत है। इस तकनीकी युग ने विकास के, सुविधा के नित नए संसाधन दिए हैं, फलतः जनमानस में सुविधावाद ने जड़ें जमा ली हैं। इसी सुविधावादी मनोवृत्ति ने सामूहिक जीवन-शैली में भी अवरोध पैदा किया है। माना जा रहा है कि आने वाले युग में संयुक्त परिवार तो एक आश्चर्य बनकर रह जाएगा। भावी यथार्थ को उजागर करने वाला यह एक गंभीर तथ्य है।

बढ़ती व्यक्तिवादी मनोवृत्ति में मनुष्य सिमटता जा रहा है। 'मैं' व 'मेरेपन' की सीमाएं पत्नी व बच्चों तक भी अब मुश्किल से ही बनी रह पा रही हैं। संयुक्त परिवार की सुरम्य शैली से अनजान कथित आधुनिक-एकांगी शहरी संस्कृति में ढला-बढ़ा एक बालक नहीं समझ सकता कि दादा-दादी या चाचा-चाची भी अपने ही परिवार के सदस्य कहलाते हैं! पारिवारिक रिश्तों व उन रिश्तों के पवित्र महत्त्व से वह अनजान ही रहता है। देशज संस्कारों से विलग ग्यारह साल का चिराग जब स्कूल से घर आया तो देखा—पोते के साथ रहने की बड़ी तमन्ना लेकर दादा-दादी गांव से आए हुए हैं। चिराग भी एकबारगी खुश था, ढेर-सारे खिलौने-मिठाइयां व स्नेह पाकर, पर दो दिन से अधिक वह खुशी न टिक सकी। तीसरे दिन तो चिराग अपनी 'मम्मी' से पूछ ही बैठा—'मम्मी! ये 'गेस्ट' यहां कब तक रहेंगे? बड़ा डिस्टर्ब होता है। सामने परीक्षा आ रही है, तैयारी भी करनी है।' उस समय तो आंख के इशारे से समझाकर 'मम्मी' ने चिराग को चुप कर दिया। लेकिन पास ही के कमरे में बैठी दादी के कानों में ये शब्द पड़ गए थे और उनकी इच्छाओं, आकांक्षाओं व पोते के साथ से मिलने वाले सुख पर पानी फिर चुका था। शाम होते-होते तो अपना सामान वे समेट भी चुके थे। दूसरे बेटे के यहां जाने का कोई मोह भी अब उन्हें नहीं रह गया था।

यह भी कोई दीर्घ अतीत का किस्सा-कहानी नहीं कि पचास-पचास सदस्यों का संयुक्त परिवार एक ही छत के नीचे रहता था। सबका सुख-दुख साथ में जुड़कर चलता था। दादी-नानी की कहानियों-किस्सों के माध्यम से बाल-मन को संस्कारों की अनुपम खुराक मिलती थी। सुख-शांति, सौहार्द, सहिष्णुता के संस्कार बचपन से ही मिल जाते थे। लेकिन उदारवादी संस्कृति के तेजी से पनपने तथा समाज में आ गई नई आर्थिक संस्कृति के कारण एकल परिवारों की संख्या निरंतर बढ़ती जा रही है। छोटे परिवार को सुख का आधार स्वीकार करती इस संस्कृति ने संयुक्त परिवारों की आत्मा को क्षत-विक्षत कर दिया है।

संयुक्त परिवार विकास व निश्चिंतता का आधार माने जाते रहे हैं। समर्पण, कर्तव्य-निष्ठा और सौहार्द इनकी बुनियाद रही है। इस बुनियाद को जर्जर करने वाले अनेक तत्त्व अब दीमक की तरह लग चुके हैं। सामुदायिक जीवन में बिखराव के कारणों का विचार करते हुए गुरुदेव श्री तुलसी

ने 'पंचसूत्रम्' में लिखा है—

अन्योन्यं वत्स! सन्देहो, निरपेक्षा मनः स्थितिः।
अभावः सहयोगस्य, स्वार्थसिद्धेः प्रधानता।।
अपालनं समत्वस्य, मर्यादाया उपेक्षणम्।
न्यूना कर्तव्यनिष्ठा च, सुतरामसहिष्णुता।।
स्वच्छन्दा वृत्तिरज्ञानमनुशासन-पद्धतेः।
अविवेक इमे स्पष्टमशान्तेः सन्ति हेतवः।।

सामुदायिक जीवन के विघटन का पहला और प्रमुख कारण है संदेह। परस्परता का महल उतना ही ऊंचा हो सकता है जितनी गहराई हो विश्वास की। विश्वास को जहां कहीं छोटी-सी खरोंच लगती है कि शांत-सहवास का बड़े-से-बड़ा भवन क्षणभर में चरमरा कर गिर जाता है। बार-बार अनपेक्षित संदेह न केवल कार्यक्षमता को ही घटाता है, अपितु हर क्षेत्र में कुंठा, हीन भावना व प्रतिशोध के भाव को भी पैदा करता है। जहां संदेह होगा, वहां द्वेष का भाव स्वतः उभर आएगा। एकत्व नहीं रह पाएगा। परिणामतः शांत-सहवास का आधार ही समाप्त हो जाएगा।

केवल पत्थर ही एकाकी रह सकता है (Only stone : stays alone)। उसे किसी की अपेक्षा नहीं होती, लेकिन मनुष्य समाज में ही जी सकता है। मनुष्यों के बीच एक-दूसरे के प्रति अपेक्षा का संबंध सर्वत्र जुड़ा हुआ है। इसीलिए निरपेक्ष मनःस्थिति लेकर वह समुदाय को सुदृढ़ता नहीं दे सकता। सहयोग के खंभों पर ही सह-अस्तित्व संभव है। कोई भी व्यक्ति या तत्त्व कभी भी पूरी तरह अनावश्यक या निरर्थक नहीं होता। परस्पर एक-दूसरे की उपयोगिता को स्वीकारना व उसे महत्त्व देना आवश्यक है। एक-दूसरे की अपेक्षा को समझते हुए जब समायोजन का प्रयास किया जाता है तभी शांत-सहवास स्थित होता है।

बढ़ने का नाम जिंदगी है, रुकने का नाम मरण है। आशा और निराशा का चक्र जीवन में चलता रहता है। 'निराशा दस बार तो आशा ग्यारह बार'—का क्रम बना ही रहता है, तभी व्यक्ति के सामने घुटने टेकने की बात नहीं आती। सीजर की नाव कभी डूबती नहीं, क्योंकि जहां से तूफान आते हैं, लंगर भी आते चले जाते हैं। पर बहुत-से लोग ऐसे भी होते हैं जिनके शीशे-सा दिल एक बार चटक जाए तो जुड़ने का नाम ही नहीं लेता। ऐसा कब होता है?

अच्छी पढ़ी-लिखी, समझदार युवती निशा के आंतरिक सौंदर्य को न पहचानने की वजह से ससुराल जाते ही उसके सारे सपने चूर-चूर हो गए। बात-बात में 'यह भी कोई जिंदगी है।' निशा का तकियाकलाम बन गया। सदा-सदा के लिए वह पीहर लौटने को मजबूर हो गई। जीवन के हर क्षण में अब निशा को उद्देश्य की तलाश है, पर 'मैं बर्बाद हो गई' की भावना उसके मन में इस तरह पैठ गई कि हर प्रवृत्ति उसे निस्सार नजर आती है। जिंदगी के अर्थ को तलाशते हुए भी अजाने उदासीन कर्म उसे घेरे रहते हैं। सुरम्य सपनों के बीज बोने की उम्र में संवेदनशून्य-सी निशा सचमुच 'निशा' का ही पर्याय बन गई। बड़ी लाचारी के साथ वह कहती—कोई मुझे इतना-सा सिखा दे कि 'यही! यही!! और यही है जिंदगी!!' बात ठीक भी थी। 'यही है जिंदगी' की सोच के साथ ही जिंदगी को जीया जा सकता है।

निराशा ही मन का लकवा है। निराशा की सांस जहां भी आती है—जीवंतता खो जाती है, पग-पग पर मिलने वाली मौत जागृत हो जाती है। यह सही है कि कई बार परिस्थितियों के वात्याचक्र से प्रभावित हो, न चाहते हुए भी व्यक्ति निराशा की गहन कंदरा में डूब जाता है। जिंदगी के अर्थ उसके लिए खो-से जाते हैं। पर, व्यक्ति जो-कुछ चाहे वह सभी-कुछ उसे आसानी से मिलता ही चला जाए तब भी जिंदगी कुछ ही समय में अपना आकर्षण खो देगी। अप्रत्याशित व आश्चर्यजनक मोड़ ही जीवन को आनंद से भरते हैं। विपरीत परिस्थितियां ही व्यक्तित्व को निखारने वाली होती हैं यदि उनका सही व विवेकपूर्वक सामना किया जाए, इसके अभाव में वे टूटन का कारण भी बन जाती हैं।

समय पर सही निर्णय का साहस यदि व्यक्ति नहीं कर पाता तो टूटन उसे घेर लेती है। सामने कोई बाधा नहीं होती, पर व्यक्ति की स्वयं की कमजोरी ही बाधा बनकर खड़ी हो जाती है। असामयिक व कायर मौन से भी 'चाह के लिए राह समाप्त हो जाने' और 'जिंदगी व्यर्थ हो गई' जैसे भाव पैदा हो जाते हैं। तब व्यक्ति बिना किसी उमंग-उत्साह के जीने को विवश हो बैठता है। अपनी सांसों के साथ अपनी ही आशाओं पर भी अजाने में ही वह पानी फेरता चला जाता है। इसी तरह औचित्यपूर्ण समझ के अभाव व असहिष्णुता के एक क्षण की कीमत भी कई बार जीवन-भर चुकानी पड़ती है। चूर-चूर होती महत्त्वाकांक्षाएं, भरभराकर बिखरते विश्वास और टूटते सपने व्यक्ति के मन को अशांत कर देते हैं। इसी अशांत मन से एकांत में उठती एक आवाज बार-बार गूंजती जाती है—'क्या यही है जिंदगी?'

कर्तव्य, लोक-मर्यादा, समय व समझ की सीमाएं और इन्हीं के बीच अपने आधार, अपने विश्वास, अपनी विवशता व अपनी भावना के अनेक दरवाजों से गुजरकर व्यक्ति की सोच किसी निर्णय तक पहुंच पाती है। इन्हीं में

से गलतफहमी, शंकाएं और भ्रम के अनेक परदे भी जाने-अजाने बीच में आ उभरते हैं। तब व्यक्ति यथार्थ का दर्शन करने से चूक जाता है। दवा से बढ़कर दुआ होती है, लेकिन संवेदनहीनता के इस दौर में संवेदना का मरहम लगाने की फुरसत व खयाल कब, कितना, कौन रख पाता है? स्वार्थों की दुनिया में लोग दूसरों को मात्र साधन के रूप में उपयोग करना चाहते हैं। जब तक स्वयं का कार्य हो—सामने वाला मशीन की तरह साथ देता रहे, पर उसे भी कुछ जरूरत होती होगी, इस ओर कभी ध्यान ही न जाए तो सामंजस्य गड़बड़ा जाता है। मशीन को भी समय-समय पर देखभाल व तेल आदि देने की जरूरत होती है, लेकिन साधन के रूप में व्यक्ति को प्रयुक्त करने वाली चेतना की आंख कभी इस दिशा में उठे ही नहीं तो परिणामतः व्यक्ति टूट जाता है।

हम जानते हैं कि इतिहास गिरने वाले नहीं, गिरकर के उठ खड़े होने वाले ही रचते हैं। डूबने के भय से पानी में कभी पैर ही नहीं रखे तो वह कभी तैरना भी नहीं सीख सकता। खतरों से खेलकर ही जिंदगी जीवंत बन पाती है। टूटन के भय से जिंदगी से कतराने वाले लोग कभी जिंदगी का आनंद नहीं उठा पाते। जब, जहां, जिस परिस्थिति में व्यक्ति है—उसी में आनंद को खोज लेने वाला ही जिंदगी को वस्तुतः एक मुकाम तक ले जा सकता है। 'यही! यही!! और यही है जिंदगी!!!' का एहसास जगाने के लिए जरूरी है—सीधी रखना अपनी रीढ़। झुके कंधे निराशा के प्रतीक हैं। सीधी रीढ़ तन की स्वस्थता का ही नहीं, किसी दृढ़ मनोभूमि पर खड़े होने का भी संकेत है।

जिंदगी हो और परिस्थितियों के उतार-चढ़ाव न आएं—ऐसा तो कदापि संभव नहीं है। परिस्थितियों की लहरों में अपने-आप को सुरक्षित रखने के लिए कुछ झुकना सीखें। परिस्थितियों का ज्वार समय के साथ गुजरकर स्वतः शांत हो जाएगा। एक सीमा तक लचीलेपन, समझौते से काम लें। लेकिन परिस्थितियों के थपेड़ों से अपने-आप को कभी टूटने न दें। समय के साथ भी कई समाधान मिल जाते हैं।

परिस्थितियों को मातम का नहीं, प्रसन्नता का विषय बनाते हुए अपने ढंग से जीते जाएं, अपनी प्रतिभा को पथ देते जाएं—तब कुंठा और निराशा कभी आपकी राह नहीं रोक सकती।

आनंद के साथ जीया गया जीवन ही जीवन है। और यह आनंद की चाबी सदैव व्यक्ति के भीतर ही वर्तमान रहती है, कहीं बाहर, किसी दूसरे के हाथ में नहीं। एक-एक क्षण को आनंद के साथ जीने का संकल्प जीवन-यात्रा के प्रारंभ में ही अपेक्षित है। दूसरों के सुख को देखकर अपने सुख को कम या नजर-अंदाज करने की आदत नहीं पालनी चाहिए। 'मेरा गम कितना कम है'—की सोच नए ढंग से जीने का सलीका देगी।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के शब्दों में—'जो व्यक्ति निरंतर व्यस्त है, वह नासमझी का जीवन जी रहा है। खाली होना—जीने की एक कला है।' इसीलिए कुछ समय शांत और एकांत को अपना साथी अवश्य बनाएं। निर्विचारता की स्थिति जिंदगी को नया अर्थ देगी।

कल्पना और सच के बीच जो फासला है, अतीत और वर्तमान की जो दूरी है, उसे पार करने में व्यक्ति का पुरुषार्थ मुख्य भूमिका निभाता है। सभी प्रश्नों, जिज्ञासाओं का समाधान सदैव स्वयं में ही मिल जाए, यह अच्छी बात है। पर, ऐसा होना जरूरी नहीं। जब स्वयं की निर्णय लेने की स्थिति न रहे, उस समय किसी के निर्णय को मान लेना भी हितकारी ही होता है। ज्यादा चिंता का भार ढोने के बजाय सबकी इच्छापूर्ति में ही अपनी इच्छापूर्ति का आनंद तलाशना अच्छा है।

पूरी ईमानदारी के साथ वर्तमान को जीते हुए अतीत से प्रेरणा लेने और भविष्य के प्रति जागरूक रहने से आपके सपनों का संसार आपके पास टिका रह सकता है।

ऐसे जीवन के लिए समाज का होना और उसका सहयोग प्राप्त करना भी आवश्यक है। यदि बच्चे को जन्म से ही कोई सहयोग न मिले तो उसका अस्तित्व ही संकट में पड़ जाएगा। अकेला रह कर वह 'रामू भेड़िया' के रूप में तो उभर कर सामने आ सकता है, पर स्वस्थ व्यक्तित्व-विकास को वहां कोई अवकाश नहीं। सहयोग लेना व देना एक महत्त्वपूर्ण कला है। करने, कहने या दिखाने के लिए सहयोग न हो, अपितु सहयोग स्वभाव बन जाए—यह जरूरी है। जब, जहां अवसर व सामर्थ्य हो—अनौपचारिक रूप से सहयोग हो जाए। सहयोग का हेतु अपना स्वभाव व सामने वाले की अपेक्षा हो। अपने 'मूड' या सामने वाले व्यक्ति के आधार पर औचित्य का निर्धारण न किया जाए। सामुदायिक जीवन में जब तक प्रतिदान की भावना से मुक्त सहयोग का मनोभाव बना रहता है—जीवन भी हलका और निश्चिंत बना रहता है। पर जब सहयोग सशर्त बन जाता है—सौहार्द या अपनत्व नहीं रह सकता। सहयोगमय स्वभाव में ही प्रीतिपूर्ण सहवास निवास करता है। जहां स्वार्थ-मुक्त चेतना के साथ प्रीति होगी विश्वास को बल

मिलेगा, स्वस्थ सामुदायिक जीवन सुगम हो जाएगा। इसके अभाव में भला बिखराव को कौन रोक सकता है ?

'प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते।' बिना प्रयोजन या स्वार्थ के कोई भी व्यक्ति कोई कार्य नहीं करता—इसमें भी सचाई है। लेकिन स्वार्थपूर्ति की दिशा में भी सीमारेखा अपेक्षित है। अपने स्वार्थ की संपूर्ति में दूसरे का हित बाधित न हो—यह ध्यान रखना अपेक्षित है। जब अपने स्वार्थ के समय नियम कुछ भिन्न और दूसरे के संदर्भ में नियम कुछ भिन्न बन जाते हैं तो फिर सामने वाले की मनःस्थिति पर भी उसका उलट प्रभाव पड़ता है और सामूहिकता में दरार आ जाती है। इसीलिए सामुदायिक जीवन के लिए अपने व्यक्तिगत स्वार्थों का सीमाकरण व समय पर उनका विसर्जन भी अपेक्षित है।

नेता या मुखिया का सबके प्रति समान बर्ताव भी समुदाय की स्वस्थता के लिए आवश्यक है। संकुचित मनोवृत्ति के साथ किए गए वैषम्यपूर्ण व्यवहार की छोटी-सी चिनगारी ही सामंजस्यपूर्ण व्यवहार को समाप्त कर देने के लिए पर्याप्त है। इसीलिए समान व्यवहार सदा काम्य है।

जहां समाज है वहां व्यवस्था भी अपेक्षित है। हर समाज-संगठन की अपनी कुछ लिखित-अलिखित मर्यादाएं होती हैं, जिनकी अनुपालना व प्रतिष्ठा बनाए रखना सभी का दायित्व होता है। सभी सम्मान के साथ आचार की अनुपालना करते रहें तो सामुदायिकता के सुमन खिल उठते हैं। लेकिन जहां कुछ लोग तो मर्यादा की परिपालना करें और अन्य उनकी उपेक्षा करें, तो परस्परता में बिखराव आ जाता है।

जहां अधिकार के प्रति अतिरिक्त जागरूकता व दायित्व निर्वहन के प्रति उदासीनता या कर्तव्यनिष्ठा का अभाव हो जाता है वहां समायोजन सफल नहीं हो सकता। जहां एक व्यक्ति निरंतर कार्यरत रहे और दूसरा या तो आलसी, प्रमादी हो जाए या दूसरों को निरंतर आज्ञा-निर्देश देता रहे व स्वयं कुछ न करे, वहां भी परस्परता नहीं बनी रह सकती। अपने दायित्व का निर्वहन सभी पूरी सजगता से करते रहें तो कार्य भी भारी नहीं लगता। परस्पर आनंद भी बना रहता है। इसके विपरीत, एक के द्वारा अपने कर्तव्य से मुख मोड़ना या जी चुराना—सबको प्रभावित करता है। परिणामतः परस्परता खंडित होती है।

सहिष्णुता संगठन का प्राण है। समूह में विचार, रुचि, कार्यशैली की भिन्नता न हो—ऐसा तो हो नहीं सकता। सबके-सब पूरी तरह एक ही सांचे में तो ढल नहीं सकते। ऐसी स्थिति में समय-समय पर एक-दूसरे के विचार-भेद आदि को सम्मान देना, सहना भी जरूरी हो जाता है। जहां बात-बात पर खींच-तान होती रहे, कहने और सहने की उचित कला नहीं होती तो सह-जीवन की आशा भी नहीं की जा सकती।

स्वच्छंदता और सामुदायिकता साथ-साथ नहीं चल सकते। विनय व वात्सल्य के धागों से जहां परस्परता बनी रहती है वहां गति-प्रगति के उचित अवसरों के साथ संयम का अंकुश भी बना रहता है। अपनत्व के साथ किया गया अनुशासन किसी के लिए बोझ नहीं बनता। स्वच्छंद वृत्ति का परिहार सामूहिकता के लिए इष्ट है। कहीं भी आचार-व्यवहार का सम्यक् अवबोध न होने से भी स्खलना हो सकती है। जिज्ञासापूर्वक यथासमय अवबोध कर इस कमी को दूर किया जा सकता है।

विवेक को 'तीसरी आंख' कहा जाता है। हर सदस्य जहां विवेक से समझपूर्वक काम लेता है—साथ निभ जाता है। जहां सोचने-विचारने, कहने-करने में विवेक नहीं होता, कलह व तनाव को बहुत अवकाश मिल जाता है। थोड़ी-सी उदारता, थोड़ी-सी समझ, थोड़ी-सी सजगता और थोड़े-से विवेक से सामूहिक जीवन में शांति, सौहार्द और खुशहाली का वातावरण बनाया जा सकता है। जिंदगी की बहुत-सी उलझी हुई गुत्थियों को सुलझाया जा सकता है। जीवन की पहेली का हल खोजा जा सकता है। ❖

चित्त को क्षुद्र वासनाओं से विरत करने का एक बहुत बड़ा साधन कला है। काव्य, चित्र, संगीत आदि का जिस समय रस मिला करता है, उस समय शरीर और इंद्रियों के बंधन ढीले पड़ गए होते हैं और चित्त आध्यात्मिक जगत में खिंच जाता है।

—संपूर्णानंद

'देखता हूं, तुम्हारा मनोबल काफी है। शरीर की सहनशक्ति भी अच्छी है। तुम्हें मालूम है, इस चकरी में तुम प्रतिघंटा 70,000 मील की रफ्तार से घूम रहे थे? यदि सचमुच राकेट में होते तो अब तक कहां पहुंच गए होते?'

आकाश की सात सीढ़ियां

शान्तनुकुमार आचार्य

सवेरे-सवेरे एक दिन अखबार पढ़ते समय मैंने एक विज्ञापन देखा, लिखा था—'जो राकेट पायलट बनना चाहते हैं, वे निम्न-लिखित पते पर आवेदन करें :

सामंति चंद्रशेखर, महाकाश गवेषणा केंद्र

मुंबई-1'

मैं उस समय कॉलेज में पढ़ता था। करीब दो साल हुए फ्लाइंग क्लब में प्रवेश कर विमान-चालक बन चुका था। आकाश में उड़ने का मजा चख चुका था पर अब सीमित और कम ऊंचे आकाश के लिए मन तैयार नहीं होता। जी चाहता, विमान को महाकाश की ओर उड़ा ले जाऊं। पर क्या विमान इतना ऊंचा उठ सकता है? उसके लिए चाहिए राकेट। ऐसी मनःस्थिति में विज्ञापन पर नजर पड़ी। मैंने फौरन आवेदन कर दिया।

मैं 'महाकाश गवेषणा केंद्र' से बुलावा पाकर मुंबई पहुंचा। देखा, भारत की कई जगहों से अनेक प्रार्थी वहां एकत्र हैं। उनमें से कई पहलवान भी हैं। मुझे देखकर सब हंस पड़े।

मैं अधिक लंबा नहीं हूं तो क्या हुआ? मेरा मन तो खूब लंबा है। मैं भला क्यों हार मानूं? परेशान न होकर मैं परीक्षण की प्रतीक्षा करने लगा। वैसे मैं आवश्यक योग्यता रखता हूं। मैं हर वर्ष कॉलेज में खेलकूद में पुरस्कार पाता रहा हूं। मेरे पास एक और भी वस्तु है। अपने गुरु से मैंने प्राणायाम और आसन भी सीखा है। प्राणायाम से श्वासोच्छ्वास को साधना जानता हूं। फिर आसन तो भारतीय योगियों का व्यायाम ही है। इस व्यायाम के बल पर ही ऋषि-मुनि दुस्साध्य साधना करते थे। यह अतिरिक्त विशेषता मुझमें थी। पर मैंने किसी से यह बात कही नहीं।

टन! घंटा बजता है। न जाने कहां से निकलकर अचानक एक डाक्टर हमारे सामने खड़े हो जाते हैं। हमें परीक्षण प्रकोष्ठ में ले जाकर वे हाथ से न जाने क्या दिखाते हैं? हम लोगों ने देखा, सात बड़े-बड़े संदूक रखे हुए हैं। उसके बाद डाक्टर ने कहा—'सुनिए, ये हैं स्वर्ग को जाने की सात सीढ़ियां। इन्हें पार करने वाला स्वर्ग जा सकता है, ऐसा हम मान लेंगे। उसके बाद उसे राकेट पायलट का प्रशिक्षण दिया जाएगा।' इतना कहकर उन्होंने मेरी ओर अंगुली उठाई। मैं चल पड़ा पहले संदूक की ओर।

इस संदूक का नाम है—'घुप अंधेरी पेटी।' राकेट में जाने वाले को अंधेरे और एकांत में बहुत दिनों तक रहना पड़ता है। मैं अंधेरे में रह सकूंगा या नहीं, इसकी परीक्षा यहां होगी। मुझे संदूक के अंदर ढकेलकर डाक्टर ने किवाड़ बंद कर लिया। धड़ से दरवाजा बंद हो गया। देखते-देखते धूप से संदूक की बत्ती बुझ गई। उसके बाद घिर आया मिचमिचाता अंधकार। चारों ओर सूनापन। रंचमात्र भी आवाज नहीं। जैसे मैं महाकाश में हूं। महाकाश ऐसा ही अंधेरा और शून्य है।

मैं चुपचाप बैठा रहा। तनिक अंगड़ाई लेने की भी जगह नहीं थी। यह एक छोटा तंग संदूक है। ठीक राकेट पायलट के केबिन की तरह। उस पर अंधेरा। चारों ओर लटक रही थीं—तारों की लड़ियां। बाहर तारों के जरिए वे लोग मेरे शरीर और मन की परीक्षा कर रहे थे। तारों के ये लच्छे जाल की तरह मेरे शरीर से लिपट गए थे। तब भी मैं बैठा रहा। जैसे सचमुच मैं योगासन कर रहा हूं। मैं ध्रुव हूं। मेरे आसपास चारों ओर हैं बाघ, भालू, सांप और अंधकार।

सुबह हुई। मैंने टटोलकर एक बोतल उठाई। न जाने क्या है इसमें? जैसे अंधे अक्षर पढ़ते हैं, वैसे ही टटोल-टटोलकर मैंने बोतल को देखा। उभरे-उभरे दो अक्षर मेरे हाथ आए, 'दूध', मैंने पढ़ लिया। फिर मैंने मुंह से लगाकर भूख मिटाई। थोड़ी देर के बाद पेशाब लगी। एक कोने में पेशाब का पात्र रखा था। टटोल-टटोलकर मैंने पाया। फिर मैं बैठा रहा। एकाएक दरवाजा खुला। बाहर की रोशनी मानो पहली बार आंखों में पड़ी हो। प्रकाश देखकर मैं खुशी से पुलकित हो उठा।

मैं संदूक में अड़तालिस घंटे रहा। बस, इतनी ही देर। पर संदूक के अंधेरे में मैं समय भूल गया था। लगा, मानो मैं हजार वर्षों की तपस्या के बाद आंखें खोलकर अभी-अभी उठा हूं।

उसके बाद मैं दूसरे संदूक मे गया। यह है शैतान चकरी संदूक। इसमें प्रवेश करते ही यह घूमने लगता है। ठीक वैसे ही जैसे राकेट पृथ्वी के चारों ओर घूमता है। यदि एक व्यक्ति को एक लंबी रस्सी से बांधकर चकरी के समान घुमाया जाए तो उसे जैसा लगेगा, ठीक वैसा ही इस संदूक में लगता है। इस प्रकार घूमते समय व्यक्ति का दिमाग ठीक नहीं रह सकता है। फिर राकेट पायलट का दिमाग तो एक बड़ी चीज है। उसके ठीक नहीं रहने पर काम कैसे चलेगा? इसकी परीक्षा इस संदूक में होती है।

मैं संदूक में घुसा। डाक्टर ने मुझसे पैर सिकोड़कर आराम से सोने को कहा। दरवाजा बंद करने से पहले उन्होंने मुझे एक स्विच पकड़ाकर कहा—इस स्विच को दबाते ही बक्से के अंदर की बत्ती बुझ जाएगी। अन्यथा वह सदा जलती रहेगी। जब तक तुम्हें होश रहे स्विच दबाते रहना। बत्ती बुझते ही हम मान लेंगे कि अभी तुम्हारी और घूमने की इच्छा है। बत्ती के न बुझने पर हम सोचेंगे कि तुम डर गए हो और तब हम चकरी बंद कर देंगे।

संदूक घूमने लगा। पर संदूक के अंदर मुझे पता नहीं चला कि वह कितनी रफ्तार से घूम रहा है? पर डाक्टर के कथानानुसार मैं बत्ती बुझाता रहा। बत्ती बुझते ही वे चकरी की गति बढ़ा देते।

धीरे-धीरे मेरा शरीर न जाने कैसा झनझनाने लगा, फिर ऐसा लगा मानो शरीर की मांसपेशियां खींच ली गई हों। मेरी छाती थर्रा उठी। लगा, उस पर कोई मूसल कूट रहा हो। मैं जानता था, चकरी में बड़ी तेजी से घूमने पर शरीर का भार बढ़ जाता है। खून का भार भी बढ़ता है। पिघले सीसे की तरह खून भारी हो जाता है। सीसा साधारण धातुओं में सबसे वजनी है। ओह! मेरे सीने पर मानो एक हाथी चढ़ा आ रहा है।

फिर भी मैं स्विच दबाता रहा। उन्हें मालूम हो जाता था कि मैं अभी भी होश में हूं। बड़ी देर के बाद चकरी रुक गई। डाक्टर दिखाई पड़े। मैंने पूछा—'जी, क्या मैं राकेट पायलट बन सकूंगा?' डाक्टर ने अन्य पांच संदूकों की ओर इशारा किया और कहा—'अभी भी पांच सीढ़ियां बची हैं।' फिर किंचित मुस्कराकर मेरी ओर देखते हुए कहा—'देखता हूं, तुम्हारा मनोबल काफी है। शरीर की सहनशक्ति भी अच्छी है। तुम्हें मालूम है, इस चकरी में तुम प्रतिघंटा 70,000 मील की रफ्तार से घूम रहे थे? यदि सचमुच राकेट में होते तो अब तक कहां पहुंच गए होते?' मन ही मन मैंने गुरुजी का स्मरण किया। इतना कष्ट मैं केवल प्राणायाम और आसन के कारण ही तो सह सका हूं।

उसके बाद मैं जिस संदूक में गया, उसका नाम है 'लाख की कोठरी।' नाम सुनकर मैं चौंका। पांडवों को ऐसे ही एक घर में रखकर कौरवों ने आग लगा दी थी।

हुआ भी वही। मेरे घुसते ही कमरे को गर्म कर दिया गया। राकेट जब महाकाश से लौटकर पृथ्वी के वायुमंडल में प्रवेश करता है, उस समय वह इसी तरह गर्म हो जाता है। देखते-देखते मेरे चारों तरफ धुआं उठने लगा। मैं पसीने से लथपथ होने पर भी बैठा रहा।

आधे घंटे के बाद मैं बाहर निकला। डाक्टर ने कहा, 'अच्छा! लगता है तुम आग में भी नहीं जलोगे।' बाद में सुना मेरी कोठरी का तापमान था 103 डिग्री फॅरेनहाइट।

वहां से मैं ध्वन्यागार में गया। यहां मेरे कानों के पास कई तरह की तीखी आवाजें की गईं। कानों में रुई का फाया लगाकर मैं बैठा रहा। नहीं तो कानों के पर्दे फट गए होते। धीरे-धीरे शोर बढ़ने लगा। यदि हम उस तुमुल-नाद को नापना चाहें तो शायद एक हजार रेल इंजिन की सीटियों की सम्मिलित ध्वनि के बराबर हो। मेरी देह की चमड़ी ढोलक के चमड़े की तरह थरथरा उठी। सिर पर हाथ लगाया तो बाल भी गर्म होने लगे। डाक्टर ने कहा, 'नाद के थपेड़े से बाल गर्म हो जाते हैं।'

यदि राकेट पायलट का सिर ध्वनि न झेल सके तो बड़ी मुश्किल होगी। राकेट जब जमीन से उठता है, आकाश को चीरने वाली भयंकर गर्जना करता है। इस ध्वनि से व्यक्ति पागल भी हो सकता है। जो भी हो, मैं नाद की कोठरी से आराम से निकल आया।

इतने कष्टों के बाद भी वे मेरी परीक्षा लेते रहे। पांचवें संदूक का नाम है नाचने वाला संदूक। राकेट में बैठकर शून्य में उठते वक्त व्यक्ति को ऐसे अनेक धक्के खाने होते हैं। फिर व्यक्ति को उस स्थिति में दिशा-ज्ञान सही रहता है या नहीं—यह जानना भी जरूरी है। इसलिए उन लोगों ने मुझे नाचने वाले संदूक में भर दिया। संदूक नाचने-कूदने लगा, घूमने लगा। मैं संदूक के संग नाचता रहा। पर हमेशा मेरा सिर ऊपर आकाश की ओर रहा। मतलब आकाश की ओर मुंह किए मैं राकेट चला रहा था। मेरा मुंह यदि आकाश की ओर न होकर नीचे की ओर होता तो मेरा राकेट आकाश की ओर न जाकर जमीन पर धड़ाम से नीचे गिर पड़ा होता।

नाचने वाले बक्से से निकलते ही उन लोगों ने मुझे छठवें संदूक में भर दिया। इस संदूक का नाम है 'भार-शून्य संदूक।' इसमें कुछ ऐसी खूबी है कि संदूक में घुसते ही देह का वजन गायब हो जाता है। शरीर रहता है पर वजन नहीं। बड़ी तकलीफदायक स्थिति है। पृथ्वी के ऊपर बहुत ऊंचे जाने पर एक ऐसा क्षेत्र आता है जहां राकेट-पायलट की देह से भार चला जाता है। अतः जिंदा रहकर भी वह समझ नहीं पाता है कि जीवित है या मृत।

यह है सातवीं सीढ़ी। सबसे ज्यादा कष्ट यहां होता है। पर वास्तविक राकेट पर चढ़ने का मजा तो यहीं मिलता है। राकेट पायलट की पोशाक और मुखौटा यहां मिलते हैं। पारदर्शी प्लास्टिक का मुखौटा लगाकर यहां बैठ जाने पर—वाह! लगता है, ठीक राकेट ही है।

पहले उन्होंने मुझे पर्याप्त आक्सीजन दिया। उसके बाद मैं राकेट पायलट की पोशाक पहन महाशून्य संदूक के अंदर गया। मैं कंधे पर लटकती हुई आक्सीजन की थैली से सांस ले रहा था। इसी बीच मेरी सीट के पास एक गिलास में पानी रख दिया गया। निश्चय ही पीने के लिए नहीं। फिर किसलिए?

मैं प्रतीक्षा करने लगा। अचानक घूं...करते हुए एक यंत्र चलने लगा। मैं फौरन समझ गया कि मेरे शरीर को कोई चूस रहा है। मेरे आसपास हवा सोखी जा रही थी। हवा का स्थान भरने के लिए मेरी पोशाक फूल-फूल उठती थी। मेरी आंखों के सामने एक मीटर का कांटा धीरे-धीरे घूम रहा था। वह है ऊंचाई नापने का यंत्र। वह दिखा रहा था—दस हजार फुट—पंद्रह हजार—बीस—तीस—चालीस—पचास और साठ हजार फुट।

ओह! उसके बाद सत्तर हजार फुट।

मैं वस्तुतः ऊपर को नहीं उठ रहा था। सत्तर हजार फुट ऊपर पहुंचने पर जो हो सकता है वह सब हो रहा था। उस संदूक के भीतर मेरी पोशाक न होती तो मेरी चमड़ी मेंढक की तरह फूलकर फट गई होती।

परखने के लिए मैंने हाथ से ग्लोब निकाल दिया।

आह! मेरी पलकें मुंदने लगीं। मेरी हथेली अचानक बैलून की तरह फूल उठी।

मीटर का कांटा उठा—पचहत्तर हजार फुट। तभी मैंने नीचे देखा।

ग्लास का पानी खदकने लगा था। तापमान के कारण नहीं। लघुचाप के कारण। पचहत्तर हजार की ऊंचाई पर पानी पानी नहीं रहता। वह भाप बन जाता है।

डाक्टर ने कहा, 'यदि पोशाक न होती तो खून इसी तरह भाप बनकर उड़ जाता।'

मेरी पोशाक में एक माइक्रोफोन भी लगा था। उसे मुंह के पास लेकर मैं अचानक बोल उठा।

'हेलो! मैं युधिष्ठिर बन गया हूं। नर्क-दर्शन पूरा हो गया। अब मैं स्वर्ग को जाऊंगा।'

आप सुनकर खुश होंगे कि मुझे राकेट पायलट चुन लिया गया है। पहलवान सब कहां गए, मैं नहीं जानता। पर यह जानकर और भी अचंभा होगा कि इस सूचना से मेरे गुरूजी को जरा भी आश्चर्य नहीं हुआ। उन्होंने हंसते हुए केवल इतना ही कहा—

'यह कोई नई बात नहीं है। देह और मन को साध लेने पर व्यक्ति और भी दुस्साध्य काम कर सकता है।' ❖

ओड़िया से अनूदित : **शिवप्रिया महापात्र**

ईमान का........पृष्ठ 45 का शेष

हमारे भीतर एक दीपक निरंतर जलता रहता है, जो अंधेरे कमरे के कोने में चमकती हुई हीरे की कनी की तरह सदाबहार प्रकाश से ओतप्रोत है।

हीरे की कनी को जितना तराशा जाएगा, प्रकाश उतना ही बढ़ेगा।

उस भीतरी दीपक को छोड़कर कस्तूरी मृग की तरह हम नकली दीपकों के प्रकाश में परंपराओं की चट्टानें तोड़ा करते हैं।

दीपावली के साथ कितने ही सार्थक संदर्भ जोड़े जाएं, वह वास्तव में किसी सामंतशाही परंपरा का प्रतीक है।

ऐसा न होता तो आज भी लक्ष्मी अंधेरे कमरों में रोशनी से दूर कैद न होती।

स्वर्ण यदि प्रकाश का प्रतीक होता तो स्वर्ण-मुद्रापतियों के अक्षर इतिहास के अमर पृष्ठों में चमकते हुए दिखाई देते।

सदियों से निरंतर प्रवहमान सांस्कृतिक चेतना के केंद्र-बिंदु वे व्यक्तित्व रहे हैं जिनके पास न ऊपरी दिखावे के लिए कोई दीपक था और न जिनको लक्ष्मी की तलाश थी।

वे बीहड़ वनों में वनचारी मृगों की तरह उन्मुक्त उछालें भरते हुए अपने पैरों से एक गीत को जन्म देते रहे, जो श्रम और सचाई का गीत था, जो उनके भीतर की ईमानदारी से उद्‌भूत हुआ था और जो हवा के साथ बहती रोशनी में दूर-दूर तक यूं गूंजा था जैसे वादियों में आवाजें झाईं बनकर गूंजती रहती हैं।

●

हम अपने प्रश्न के उत्तर के कगार पर खड़े हैं—यही वह दीपक है, जिसके प्रकाश में सार्थकता है।

यह ईमान का दीया है।

ईमान से टूटा आदमी छल, प्रपंच, संकट, अनास्था, अश्रद्धा और अंधकार से ग्रसित होता है। उसकी नियति वृक्ष से टूटे हुए उस फल की तरह है जिसे अपने जीवन का सारा सत्त्व देकर भी दूसरे आसानी से उठाकर खा लेते हैं।

ईमान का विरोधी शब्द नहीं है।

व्याकरण ने जो शब्द दिया है वह निरर्थक है, व्याकरण आखिर में एक मशीनी प्रक्रिया है। मौलिकता का वह विरोध करती रही है और अपने विरोध से हमेशा पराजित भी हुई है।

सत्य तो यह है कि ईमानदारी से अधिक प्रकाशित और आलोकित शक्ति दूसरी नहीं है।

वह निर्भीक आत्मा का अभिनंदन-द्वार है और मनुष्य-चेतना के प्रकाश की सत्य-किरण है, जो सहस्र सूर्यों की किरणों से भी अधिक दीप्तिमान है।

●

आइए, रोज नहीं तो आज इस सचाई को हम पहचान लें।

परंपराओं की मर्यादा बनाए रखने के लिए हम भले ही आज भी हजारों दीपक जला लें, लेकिन अपनी पहचान खोजने की कोशिश हम उनमें न करें।

हमारे अंधेरे कमरे के कोने में जो हीरे की कनी की तरह प्रज्वलित ज्योतिपुंज है, वह है ईमानदारी।

हमारे भीतर की ईमानदारी दुनिया के समूचे अंधकार से एक साथ लड़ने की सामर्थ्य रखती है।

तो हम केवल एक दीपक ही जलाएं और उसे ही अपनी जीवन-यात्रा का पथ-प्रदर्शक मान लें।

ईमान के दीपक से बड़ा कोई दीया आज तक न स्थिर जल सका है और न अंधेरे को पी सका है। ❖

With best compliments from :

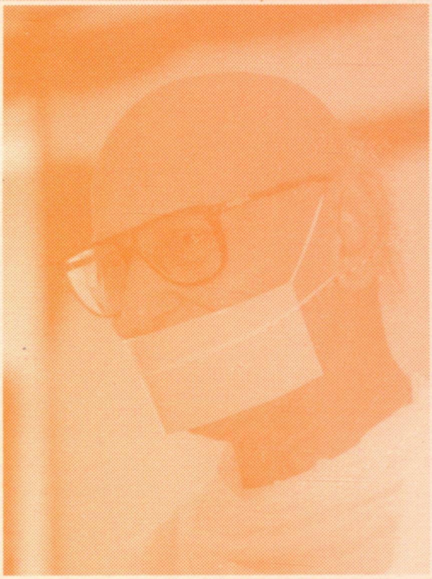

AMIT®
A CHOPRA PRODUCT
Mfg. Art Silk Sarees & Dress Material

AMIT – SYNTHETICS

Shop : W-3207, Surat Textile Market
Office : 402, Anand Market, Ring Road
SURAT 395002
Phone : 622076, 625680, 622027 Fax : 0261-636651

Pemchand Chopra Charitable Trust
W-3207, Surat Textile Market
Ring Road, SURAT

•

Jhamkudevi Chopra Charitable Trust
11-A,B, Sai Ashish Society
Udhaua Magdalla Road, SURAT

शासन सेवी

जीवराजजी बैद (राजलदेसर)
जन्म : 13 अगस्त, 1941 स्वर्गवास : 7 मई, 2000

Baid Engineers (P) Ltd.

H-8, Civil Township, Rourkela 769004

Phone : 503851

भँवरलाल सिंघी, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता-1 के लिए जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर, बीकानेर (राज.) से प्रकाशित एवं सांखला प्रिण्टर्स, बीकानेर द्वारा मुद्रित।